निबन्ध-सूची

निबन्ध-लेखन

किसी एक विषय पर अपने विचारों को क्रमबद्ध कर सुन्दर, सुगठित, सरस और सुबोध भाषा में लिखने को निबन्ध वा प्रबन्ध कहते हैं। प्रबन्ध-लेखन भी एक कला है। उस में निपुणता प्राप्त करने के लिए उसके नियमों को जानना तथा उनके अनुकूल लिखने का अभ्यास करना आवश्यक है। प्रत्येक निबन्ध में दो बातें होती हैं—एक तो अपने भावों और विचारों को एकत्र कर उनको क्रम-बद्ध करना और दूसरे उन को शुद्ध, सुबोध, सरस (रोचक) और प्रभाव-पूर्ण भाषा में रखना। पहली बात को हम सामग्री कहेंगे और दूसरी को शैली।

लेख के लिए सामग्री का होना उतना ही आवश्यक है जितना कि भोजन के लिए खाद्य पदार्थ। सामग्री एकत्र करने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं (१) निरीक्षण, (२) अध्ययन, (३) मनन। लेखक को चाहिए कि संसार में आँख खोलकर चले, जिस बात को देखे उसको मन में जमा लेने का उद्योग करे, खूब पढ़े और जो कुछ देखे वा पढ़े उस पर खूब विचार करे। विचार करने को ही मनन कहते हैं। मनन में अपने साथियों या अपने अध्यापकों के साथ बातचीत द्वारा विचार-विनिमय भी बहुत कुछ सहायता देता है। उससे दोनों पक्ष ज्ञात हो जाते हैं।

सामग्री

सामग्री के सम्बन्ध में लेखक को तीन बातें करनी पड़ती हैं।

१. **सामग्री को इकट्ठा करना**—लेखक को चाहिए कि जिस विषय पर लिखना हो उसके सम्बन्ध में जितने विचार आवें उन्हें

लिख ले। जहाँ तक हो दोनों पक्षों की बातें सामने रक्खे। सामग्री एकत्र करने का सब से सहज उपाय यह है कि हम उस विषय के सम्बन्ध में जितने प्रश्न हो सकते हों उतने प्रश्न उपस्थित करें। अपनी स्मृति और कल्पना से काम लेकर जो कुछ हमने उस विषय के सम्बन्ध में निरीक्षण या अध्ययन से जाना हो उसको अपने सम्मुख रखें।

२. सामग्री का संशोधन—हमारे सभी विचार ठीक नहीं होते। जितने विचार हमारे मन में आते हैं उन में कुछ आवश्यक होते हैं कुछ अनावश्यक और कुछ पुनरुक्ति-मात्र होते हैं। एक व्यापक बात को कह देने के पश्चात् उसके अन्तर्गत बातों को कहने की आवश्यकता नहीं रहती। जिस बात को प्रधानता देनी हो उसके सम्बन्ध की छोटी-छोटी बातों का वर्णन करना बुरा नहीं है अपितु कहीं कहीं आवश्यक होता है; किन्तु जहाँ उन्हें प्रधानता न देनी हो वहाँ उनका वर्णन करना व्यर्थ होता है। यदि हमको वर्षा का वर्णन करना है तो मेघ-मालाओं के इकट्ठा होने; बिजली के चमकने, मेंढकों के टर्राने तथा मोरों के नाचने आदि का वर्णन करना आवश्यक हो जाता है, परन्तु यदि हमको 'वर्षा से हानि या लाभ' विषय पर लिखना हो तो उसमें मयूर के नाचने या मेंढकों के टर्राने का वर्णन हास्यास्पद होगा। अपनी सामग्री में से अनावश्यक, असंबद्ध तथा बार-बार दुहराई हुई बातों को निकाल देना परम वाञ्छनीय है।

इसके अतिरिक्त लेखक को यह भी चाहिए कि वह अपने निबन्ध में उतनी ही बातें रक्खे जिनको वह पाठकों के सामने स्पष्टता से रख सकता हो। उलझी हुई बातों को रख देना पाठकों के मन में उलझन उत्पन्न कर देता है। किसी नतीजे पर पहुँचने

के लिए सीधे से सीधे मार्ग का अनुसरण करना चाहिए; इधर-उधर चक्कर काटना अच्छा नहीं समझा जाता। इन सब बातों के ऊपर हमको यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जो कुछ हम लिखें वह बाह्य स्थिति और घटना-क्रम के विरुद्ध न हो अर्थात् कोई बात देश और काल के विरुद्ध न लिखें।

३. सामग्री का क्रम-बद्ध करना—सामग्री को क्रम-बद्ध करने से पहले एक विषय की परस्पर सम्बद्ध बातें एक साथ रख लेनी चाहिएँ। फिर उन को एक स्वाभाविक क्रम में कर लेना चाहिए। जैसे—यदि किसी राजा के सम्बन्ध में लिखना है तो उसके कुल का परिचय देकर उसके जन्म का स्थान और सन् संवत् लिखना चाहिए; किन्तु यदि हम पहले विवाह का हाल अथवा विवाह के पहले वाल बच्चों का हाल लिख दें तो ठीक न होगा। इसी प्रकार रेल का वर्णन करते हुए यदि हम पहले से ही तीसरे दर्जे के यात्रियों की करुणाजनक कठिनाइयों का वर्णन करने लग जावें तो अच्छा नहीं मालूम होगा। सामग्री को क्रमबद्ध कर लेने के पश्चात् संशोधित सामग्री को संदर्भों वा परिच्छेदों (Paragraphs) में बाँट लेना चाहिए। एक परिच्छेद में एक ही मुख्य विचार रहना चाहिए। इसी को लेख का ढाँचा कहते हैं।

सामग्री के संबंध में लेखों के मुख्य मुख्य प्रकार बतला देना आवश्यक है। यद्यपि विषयों की अनन्तता के

लेखों के प्रकार कारण प्रबन्धों के अनेक प्रकार हो सकते हैं तथापि उनमें तीन मुख्य हैं। (१) वर्णनात्मक (Descriptive), (२) विवरणात्मक, (Narrative), (३) विवेचनात्मक (Reflective)। ये विभाग ऐसे नहीं हैं जो एक दूसरे से बिलकुल अलग हों। एक प्रकार के लेख में दूसरे प्रकार

के लेख की थोड़ी-बहुत सामग्री आ जाती है। वर्णनात्मक लेख में थोड़ी बहुत विवेचना रहती ही है और विवेचनात्मक लेखों में भी थोड़ा बहुत वर्णन आ जाता है। इसी प्रकार विवरणात्मक लेखों में भी अन्य दोनों प्रकार के लेखों की सामग्री का समावेश हो जाता है।

वर्णनात्मक जिन लेखों में पशु-पक्षियों, नगरों, नदियों, पर्वतों, प्राकृतिक दृश्यों, कारखानों, संस्थाओं, आदि का स्पष्ट और ब्योरेवार वर्णन होता है वे वर्णनात्मक कहलाते हैं। इनके अंतर्गत प्रायः ऐसी चीज़ों का वर्णन रहता है जो किसी देश-विशेष में स्थित हों। इनमें एक प्रकार का शाब्दिक चित्र सा खींचना पड़ता है। इस प्रकार के लेखों का प्रायः वर्तमान समय से सम्बन्ध रहता है। अर्थात् इन लेखों में ऐसी बातों का वर्णन होता है जो बीत न चुकी हों, जो अब भी मौजूद हों अथवा हो सकती हों।

विवरणात्मक जिन लेखों में बीती हुई घटनाओं का काल-क्रम से वर्णन होता है वे विवरणात्मक कहलाते हैं। ऐतिहासिक घटनाओं, जीवनियों, यात्राओं आदि से सम्बन्ध रखने वाले वर्णन इसी प्रकार के लेखों के अंतर्गत माने जाते हैं।

विवेचनात्मक जिन लेखों में किसी विषय पर विचार किया जाता है अर्थात् उसके कारणों, गुण-दोषों और हानि-लाभ आदि की विवेचना की जाती है उनको विवेचनात्मक कहते हैं। इस प्रकार के लेखों के अन्तर्गत प्रायः आध्यात्मिक, मनोविज्ञान-सम्बन्धी, सामाजिक और राजनीतिक

विषय रहते हैं। विवादग्रस्त विषयों में पक्ष और विपक्ष दोनों की ही विवेचना रहती है।

विवेचनात्मक विषयों में बुद्धि से विशेष काम लिया जाता है। जिस लेख में हृदय से अधिक काम लिया जाता है और भावों तथा मनोवेगों का प्राधान्य होता है उस लेख को भावात्मक कहते हैं।

मुख्य-मुख्य प्रकार के लेखों की कुछ आवश्यक बातें

वर्णनात्मक विषयों के अन्तर्गत पशु-पक्षियों के वर्णनों में निम्नलिखित बातें लिखना आवश्यक होता है।

१—वह कहाँ पाया जाता है ? जंगली है या पालतू ?

२—वह कौन जाति का है ? जलचर है, थलचर है अथवा खेचर (आकाश में चलने वाला) है ? वह अंडज है अथवा स्तनपोषित ?

३—उसका वर्णन—उसके कितने पैर होते हैं ? सींग होते हैं या नहीं ? उसका रूप रंग कैसा होता है ? उसकी ऊँचाई कितनी होती है ?

४—उसका स्वभाव—वह अकेला रहना पसंद करता है या झुंड में रहता है ? वह क्या खाता पीता है ? उसके संबंध में कोई विशेष बात तो नहीं है ? जैसे, उल्लू का रात में देखना।

५—वह किस उपयोग में आता है ?

इसी प्रकार थोड़े बहुत अंतर से वृक्षों आदि के बारे में लिखा जा सकता है।

नगर का वर्णन—

१. नाम-करण—नाम पड़ने का क्या कारण है ? उसे किसने और कब बसाया ? जैसे वरना और असी के घाट पर बसा होने

के कारण बनारस बनारस कहलाता है। लाहौर का संबंध लव से है।

२. भौगोलिक स्थिति—किस देश या प्रांत में है ? किस नदी पर बसा है ?

३. शहर की बनावट—बाज़ारों, सड़कों, मकानों आदि का वर्णन।

४. दर्शनीय स्थान।

५. व्यापार—वह किस चीज़ के लिए मशहूर है ?

६. उत्सव आदि।

जीवनी—

१. आविर्भाव काल।

२. कुल-परिचय और जन्म (सन् संवत् आदि)

३. पालन-पोषण, विद्योपार्जन आदि।

४. विवाह।

५. जीवन की विशेष घटनाएँ—किस घटना के कारण उसका जीवनपथ निश्चित हुआ, वह बात भी लिख देनी चाहिए।

६. मृत्यु कब और कहाँ हुई ?

७. संसार में उसने क्या कार्य किया ?

विवेचनात्मक विषय

जैसे धैर्य, उदारता, साहस आदि।

१. व्याख्या।

२. उसका क्या महत्त्व है और उससे क्या लाभ हैं ?

३. उसके कुछ ज्वलंत उदाहरण।

४. उपसंहार—उस गुण के अनुशीलन के लिए प्रोत्साहन देना।

यदि किसी चीज़ से कुछ हानियाँ हैं तो वे भी लिख देनी चाहिएँ। लोकोक्तियों के ऊपर भी इसी प्रकार निबन्ध लिखे जा सकते हैं।

कहीं कहीं विवेचनात्मक लेखों में विषय की व्याख्या न कर थोड़ी भूमिका बाँध देते हैं। इस भूमिका को शीर्षक में चाहे भूमिका करके लिख दिया जावे चाहे उसे प्रवेश कह दें।

यदि हमको हिन्दू समाज की त्रुटियों पर लिखना है तो पहले भूमिका में लिख देना चाहिए कि समाज में त्रुटियाँ किस प्रकार आ जाती हैं। उसके पश्चात् एक एक त्रुटि के संबंध में अलग-अलग लिख कर बाद में उनके निराकरण के जो उपाय हों उन्हें लिख देना चाहिए।

कई लोग तो अधिकरणों या परिच्छेदों (Paragraphs) के शीर्षक ऊपर लिख देते हैं और कुछ लोग अधिकरणों के साथ लिखते हैं। बहुत से लोग इस क्रम को मन ही में रखते हैं और कोई शीर्षक नहीं देते। शीर्षक लिखे जावें, या न लिखे जावें, लेख में क्रम अवश्य रहना चाहिए और एक परिच्छेद में एक ही बात होनी चाहिए। जहाँ पर शीर्षक लिखने या ढाँचा बनाने के लिए प्रश्नपत्र में आज्ञा हो वहाँ तो शीर्षक अवश्य लिखने चाहिएँ। वैसे तो शीर्षकों का पहले लिख देना अथवा परिच्छेद के साथ लिखना विचार की स्पष्टता का द्योतक होता है।

शैली

यद्यपि सामग्री और शैली के संबंध में अलग-अलग विवेचना की जा रही है तथापि इन दोनों का पार्थक्य नहीं हो सकता, एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ता ही है। विचार की स्पष्टता से भाषा में स्पष्टता आती है और भाषा की स्पष्टता से विचारों की स्पष्टता मालूम होती है। कुछ

लोग विचार को शैली के अन्तर्गत ही मानते हैं। इसी से कहते हैं कि शैली से हम मनुष्य के स्वभाव का पता लगा सकते हैं। शैलियाँ कई प्रकार की होती हैं, किन्हीं में विचारों का प्राधान्य रहता है, किन्हीं में भावों और मनोवेगों का और किन्हीं में शब्दों का अथवा अलंकारों का। आजकल शब्दों वा अलंकारों को प्राधान्य देने में अधिक मान नहीं है और न बड़े-बड़े समास रखना अच्छा समझा जाता है। शैली चाहे जिस प्रकार की हो।

शब्दों की उपयुक्तता—यद्यपि एक अर्थ के बोधक बहुत शब्द होते हैं तथापि उनमें थोड़ा बहुत अन्तर होता है और उनकी व्यंजना अलग-अलग होती है। अतः स्थान और भाव के अनुसार शब्दों का चुनाव करना चाहिए। जो भाव गृहिणी कहने से प्रकट होता है वह ललना कहने से नहीं। 'गृहिणी' से गृह-प्रबन्ध व्यंजित होता है और 'ललना' से प्रेम। जहाँ भोजनादि गृह-प्रबन्ध तथा बच्चों के पालन-पोषण का वर्णन करना हो वहाँ गृहिणी शब्द का प्रयोग करना उचित है और जहाँ प्रेम का वर्णन करना हो वहाँ ललना रमणी आदि शब्दों का व्यवहार करना चाहिए। इसी प्रकार लज्जा और ग्लानि का प्रायः एक सा अर्थ है; किन्तु लज्जा दूसरों के संबंध में होती है और ग्लानि अपने सम्बन्ध में। जैसे—हमको यह बात कहने में लज्जा आती है। किन्तु जब 'कहने' के स्थान में 'सोचना' लिखा जाय (कहना दूसरों से होता है और सोचना अपने मन में होता है) तब ग्लानि शब्द का प्रयोग आवश्यक हो जाता है।

शब्दों की स्पष्टता—जहाँ तक हो हमको दो अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। जहाँ हम सूर्य कह सकते हैं वहाँ अर्क नहीं कहना चाहिए, क्योंकि अर्क सूर्य के अतिरिक्त आक के

पौधे को भी कहते हैं। कविता में हम चन्द्रमा को चाहे द्विज कह लें किन्तु गद्य में हमको चन्द्रमा वा रजनीश ही कहना ठीक है। जिन शब्दों के अर्थ स्पष्ट न हों उनका व्यवहार नहीं करना चाहिए और न ग्रामीण और प्रांतीय शब्दों का व्यवहार करना चाहिए। जहाँ तक हो सुगम और प्रचलित शब्दों का व्यवहार करना उचित है। बड़े-बड़े समासों से भी बचना चाहिए।

शब्दों की शुद्धता—शब्दों की शुद्धता पर सबसे अधिक ध्यान देना चाहिए। जहाँ तक बन पड़े शब्दों का विकृत रूप न रखना चाहिए। जो शब्द जैसा लिखा जाता है उसको वैसा ही लिखना वाञ्छनीय है। यद्यपि बहुत से शब्दों का रूप स्थिर नहीं है तथापि इस संबंध में बहुमत का अनुकरण करना चाहिए विशेष-कर जब कि वह बहुमत व्याकरण के नियमों अनुकूल हो। जैसे संवत् कई प्रकार से लिखा जाता है—कई लोग सम्वत् लिखते हैं और कई लोग सम्बत् लिखते हैं। किन्तु संवत् लिखना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि व्याकरण के अनुसार यही उसका शुद्ध रूप है। उदाहरणार्थ कुछ शब्दों के अशुद्ध और शुद्ध रूप नीचे दिए जाते हैं:—

अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध
आधीन	अधीन	आवश्यकत्ता	आवश्यकता	उपरोक्त	उपर्युक्त
ग्रहस्थ	गृहस्थ	गृहण	ग्रहण	राजनैतिक	राजनीतिक
एकत्रित	एकत्र	दुरावस्था	दुरवस्था	सन्मुख	सम्मुख
फाल्गुण	फाल्गुन	बृज	ब्रज	महत्व	महत्त्व
स्मर्ण	स्मरण				

यदि फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग किया जाय तो उनका भी ठीक रूप रखना चाहिए। जरा न लिखकर ज के नीचे बिंदी

लगाकर ज़रा लिखना ठीक होगा। इसके साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि विदेशी शब्दों के बहुवचन आदि हिन्दी-व्याकरण के अनुसार बनाने चाहिएँ। बाशिंदगान, मेहमानान न लिखकर बाशिंदों और मेहमानों लिखना ठीक होगा। इसी प्रकार स्कूल्स न लिखकर स्कूलों लिखना ठीक होगा।

शब्दों का माधुर्य—जहाँ तक हो कोमल और मधुर शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। जहाँ भयंकरता दिखानी हो वहाँ की दूसरी बात है, नहीं तो टवर्ग के कर्णकटु और संयुक्त वर्णों से भरे हुए शब्दों का कम प्रयोग करना चाहिए।

अनुप्रासयुक्त शब्दों का प्रयोग भी रचना में सुन्दरता ले आता है, किन्तु इसमें 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' वाले नियम का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है।

वाक्यों की शुद्धता और उनका संगठन—वाक्य व्याकरण के अनुकूल होने चाहिएँ; विराम चिह्नों का खूब ध्यान रखना चाहिए। जहाँ तक हो वाक्य छोटे हों। वाक्यों को अधिक लंबा या उलझा हुआ बना देना ठीक नहीं है।

अलंकार— थोड़े बहुत अलंकार भाषा को चमत्कारपूर्ण बना देते हैं, किन्तु अलंकारों की भरमार अच्छी नहीं। जो अलंकार विचार के प्रवाह में आ जावें उनको रक्खा जावे, किन्तु यत्न के साथ अलंकारों को लाना भावों को क्लिष्ट बना देता है। अलंकारों का प्रयोग सहल बात नहीं है। जो अलंकार ठीक न निभाया जा सके उसे न रखना चाहिए।

मुहावरे—जहाँ तक हो भाषा मुहावरेदार हो। रचना में कहीं-कहीं लोकोक्तियों के प्रयोग से रचना का सौंदर्य बढ़ जाता है*। दूसरी भाषा के मुहावरों का हिन्दी में अक्षरशः अनुवाद करना

ठीक नहीं है। नाचीज़ को अपदार्थ कहना हास्यास्पद होगा, अकिंचन कहना ठीक होगा।

कहीं-कहीं प्रसिद्ध कवियों की प्रसिद्ध सूक्तियाँ भी दे देना अच्छा होता है। इसके लिए सूक्ति-सुधा, कविता-कौमुदी आदि ग्रंथों का पढ़ना उपयोगी होगा।

हास्य—हास्य-रचना में जान डाल देता है। उसके कारण जी ऊबने नहीं पाता। हास्य के लिए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह मर्यादा के बाहर न हो जावे और न वह किसी का जी दुखावे। व्यक्ति का उपहास करना सुरुचि का द्योतक नहीं होता। शब्दों में वाक्-चातुर्य (Wit) का आ जाना अच्छा है।

संक्षेप में भाषा शुद्ध और मुहावरेदार होनी चाहिए, उसमें ओज (शक्ति) और कांति (लालित्य) का होना वाञ्छनीय है। जहाँ तक हो शैथिल्य न आने देना चाहिए और पुनरुक्ति आदि दोषों से बचना चाहिए।

———

* लोकोक्तियों और मुहावरों के ठीक-ठीक ज्ञान के लिए हिन्दी-भवन, लाहौर, द्वारा प्रकाशित 'लोकोक्तियाँ और मुहावरे' देखिए।

वर्णनात्मक निबंध

हाथी

संसार के समस्त स्थलचरों में डील-डौल में हाथी प्रायः सब से बड़ा है। यह मध्य अफ्रीका, बर्मा, लंका, दक्षिण

वर्णन

भारत के पश्चिमी किनारे पर तथा हिमालय के वन-समूहों में अधिकता से पाया जाता है। इसके भारी शरीर को देखकर दीवार का आभास होने लगता है। इसका रंग धुँए के समान होता है। बर्मा में भूरे रंग के हाथी भी पाए जाते हैं।

हाथी प्रायः दस फुट से तेरह फुट तक ऊँचा होता है। यद्यपि इसकी गरदन बहुत छोटी होती है, तथापि इसकी सूँड इतनी लंबी होती है कि यह अपने सारे काम उसी से करता है। इसकी आँखें बहुत छोटी होती हैं और कान बड़े-बड़े होते हैं, जिन्हें यह पंखे के समान फटफटाया करता है। असली दाँतों के अतिरिक्त इसके दो लंबे दाँत सफेद सींग के समान बाहर को निकले रहते हैं। जिस प्रकार मनुष्य के लिए हाथ उपयोगी हैं, उसी प्रकार हाथी के लिए इसकी सूँड बड़ी उपयोगी है। प्रत्येक चीज़ सूँड से ही पकड़कर यह मुँह में डालता है। यदि सूँड न हो तो हाथी के लिए खाना-पीना तक असंभव हो जाय। सूँड से यह बड़े-बड़े पेड़ों को उखाड़ सकता है,

पृथ्वी पर पड़ी हुई छोटी से छोटी वस्तु को भी उठा लेता है, और गाँठ लगाना, बंडल खोलना आदि अनेक आश्चर्यजनक काम कर सकता है। सूँड के कटते ही हाथी निकम्मा हो जाता है।

स्वभाव

जंगली हाथी टोलियाँ बना कर जंगलों में फिरा करते हैं। टोलियों में सब से अधिक बलवान हाथी सरदार होता है और उसी के अनुशासन में प्रायः अन्य हाथी चलते हैं। वे अपने झुंड के मध्य में मादाओं, बच्चों और निर्बल हाथियों को रखते हैं और चारों ओर उनकी रक्षा के लिए एक-एक बलवान हाथी रहता है। हाथी का भोजन पेड़ों के पत्ते, घास, चारा और फल है। हाथी को जल-क्रीड़ा में बहुत आनन्द मिलता है। यह सूँड को बाहर करके बहुत देर तक जल में लेटता, तैरता और उसे अपने ऊपर छिड़कता है।

जंगली अवस्था में हाथी बड़ा भयानक होता है, परन्तु पकड़े जाने और सधाये जाने पर अन्य पालतू जानवरों के समान सीधा-सादा और आज्ञाकारी बन जाता है। यह महावत की आज्ञा का बड़ी नम्रता के साथ पालन करता है। पालतू हाथी बड़े शान्त और भोली प्रकृति के होते हैं। इनके पास छोटे-छोटे बच्चे तक खेला करते हैं। ये अपने उपकारी के सदैव कृतज्ञ रहते हैं। कभी-कभी हाथी बड़ी चतुराई और समझ के साथ काम करते हैं। छेड़खानी करने पर ये अपने अपकारी से बदला लिये बिना नहीं रहते।

उपयोगिता

प्राचीन समय में हाथी युद्ध के मुख्य अंग समझे जाते थे। उन पर बैठकर मनुष्य लड़ाई करते थे और दुर्गों को नष्ट करने में उनसे सहायता लेते थे। आजकल यह युद्ध-सामग्री और भारी भार लेजाने के काम में लाया जाता है। बर्मा में बड़े-बड़े भारी शहतीरों को ढोने का

काम हाथियों ही से लिया जाता है। पहले हाथियों पर बैठ कर बाघ, सिंह आदि भयानक हिंस्र जानवरों का शिकार भी किया जाता था। पर अब हाथी पर बैठकर शिकार की प्रथा प्राय: नहीं रही। राजा, महाराजाओं और धनिकों के लिए यह शोभा की वस्तु है। रामलीला, विवाह आदि के जलूसों में भी हाथी सुसज्जित करके निकाले जाते हैं। मृत्यु के बाद हाथी के शरीर की प्रत्येक वस्तु काम में आ जाती है। कहते हैं, उस समय हाथी का मूल्य कई गुना हो जाता है। अतएव यह कहावत प्रचलित है "जीता लाख का मरा सवा लाख का"। हाथीदाँत की अनेकों बहुमूल्य वस्तुएँ बनाई जाती हैं। भारतवर्ष में मदुरा (मद्रास) और मुर्शिदाबाद हाथीदाँत की चीज़ों के लिए प्रसिद्ध हैं।

हानि

मदोन्मत्त हाथी कभी-कभी बड़ा हानिकारक सिद्ध होता है। बिगड़ जाने पर वह बड़ी कठिनता से वश में किया जाता है, उस समय वह अनेक मनुष्यों के प्राण ले लेता है। हाथी का भोजन भी बड़ा विकट होता है, इसलिए धनवान मनुष्य ही हाथी रख सकते हैं। कहावत है कि हाथी खरीदना तो आसान है परन्तु उसका बाँधना बड़ा कठिन है और इसीलिए जब किसी आदमी का किसी एक काम पर बहुत खर्च हो रहा हो तब कहा जाता है कि उसने सफेद हाथी पाल रक्खा है।

घोड़ा

संसार में अनेक प्रकार के चौपाये पाये जाते हैं। उनमें कुछ जंगल ही में रहते हैं और कुछ पालतू हो जाते हैं। दूसरे प्रकार के जानवरों से हमें अनेक लाभ हैं। वे हमें दूध, दही, मक्खन, घी, आदि देते हैं, हमारी सवारी के काम आते हैं और मरने पर उनकी खाल, हड्डी आदि भी हमारे उपयोग में आती हैं। घोड़ा ऐसे ही जानवरों में से है। पालतू जानवरों में यह कम उपयोगी नहीं है।

वर्णन

घोड़ा प्रायः सभी स्थानों में पाया जाता है। इसकी अनेक जातियाँ होती हैं। अरब और आस्ट्रेलिया के घोड़े सब से उत्तम माने जाते हैं। घोड़े अनेक रंग के होते हैं; लाल, भूरा, सफेद, काला, चितकबरा आदि। घोड़े की गणना शरीफ पशुओं में की जाती है, केवल आकृति और सुंदरता की ही दृष्टि से नहीं, वरन् बल, फुर्ती और अन्य सद्‌गुणों की दृष्टि से भी। इसका लंबा मुँह, छोटे कान, चमकीली आँखें, मुलायम बालों से ढकी हुई खाल, झालरदार अयाल, पुष्ट सुमदार टाँगें और लंबी गुच्छेदार पूँछ से बनी हुई दृढ़, गठीली और सुन्दर आकृति बड़ी भली मालूम होती है। घोड़ा पीठ तक प्रायः पाँच फीट के लगभग ऊँचा और सात फीट के लगभग लंबा होता है।

स्वभाव

इसका भोजन घास, चारा और दाना है। अपने लचकदार होठों से यह छोटी घास को भी सुगमता से कुतर कर खा जाता है। पालतू और शिक्षित होने पर घोड़ा स्वामिभक्त भृत्य के समान सेवा करता है। दौड़ने में यह बहुत तेज़ होता है। इसी कारण संस्कृत में इसका नाम 'तुरंग'

पड़ा है। अनेकों मीलों की यात्रा यह बिना किसी थकावट के तय कर लेता है। घोड़ा स्वभाव से मिलनसार होता है। कुत्ते, बछड़े आदि जानवरों के साथ बड़ा स्नेह कर लेता है। स्वामी की इच्छा को यह झट पहचान लेता है और आपत्ति के समय कष्ट सहकर भी यह स्वामी की रक्षा करता है। इस की स्मरण-शक्ति भी बहुत तेज़ होती है; अपने स्वामी और स्थान को यह कभी नहीं भूलता और इस सम्बन्ध में कभी-कभी बड़ी बुद्धिमत्ता का परिचय देता है। महाराणा प्रताप का घोड़ा 'चेटक' अपनी स्वामिभक्ति के कारण इतिहास में अमर है।

उपयोगिता

घोड़ा बहुत उपयोगी जानवर है। भारतवर्ष में यह सवारी करने, गाड़ी, बग्घी और इक्का खींचने तथा बोझा ढोने के काम में लाया जाता है। यूरोप और अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों में यह हल जोतने का भी काम करता है। पोलो और सरकस में घोड़े अपनी बुद्धिमत्ता का उत्तम परिचय देते हैं। घोड़े युद्ध में भी अच्छा काम देते हैं। घायल हो जाने पर भी सवार के आज्ञानुवर्ती रहते हैं।

घोड़ा शिकार के समय भी बड़ा उपयोगी सिद्ध होता है। घने जंगलों में काँटेदार झाड़ियों, खाइयों और नदी नालों को पार करता हुआ यह बड़ी शीघ्रता से शिकार के पीछे दौड़ता है। घोड़े की सवारी एक अच्छी कसरत है। सुबह-शाम घोड़े की सवारी से मंद-मंद सौरभयुक्त पवन का बड़ा आनन्द प्राप्त होता है। आज-कल घुड़दौड़ के द्वारा अनेकों को आर्थिक लाभ भी हो जाता है। प्राचीन समय में अश्वमेध करके हिन्दू लोग पुण्य उपार्जन करते थे।

मृत्यु के पश्चात् इसका प्रत्येक भाग मनुष्य के काम में आता है। इसके बालों की रस्सियाँ और बुरुश बनाए जाते हैं तथा वे गद्दी

और तकिये में भी भरे जाते हैं। खाल से जूते और चमड़े की अन्य वस्तुएँ बनाई जाती हैं। हड्डियों से चाकुओं के दस्ते, खुरों से बटन और डिब्बियाँ बनती हैं। रगों और पुट्ठों से सरेस बनाया जाता है।

रेल

रेल का महत्त्व

अठारहवीं शताब्दी से लेकर आज तक अनेक आविष्कार हुए हैं; किन्तु रेल का आविष्कार बड़े महत्त्व का है। इसने मनुष्य की जीवन-यात्रा में बड़ा परिवर्तन कर दिया है। कहाँ पहले समय के चरकचूँ करने वाले छकड़े और कहाँ हवा से बातें करने वाली रेल! रेल के कारण मनुष्य अधिक सामाजिक, कार्यकुशल और व्यापार-निपुण बन गया है। इसने देश-विदेश का अन्तर दूर कर प्रान्तीय सीमाओं को मिटा दिया है। मानव जाति के सम्बन्ध-तन्तु चारों ओर फैल गए हैं और मनुष्य अपने को सार्वदेशिक समझने लगा है।

रेल का आविष्कार

रेल के आविष्कार का इतिहास बड़ा मनोरंजक है। एक साधारण-सी घटना ने संसार का रूप पलट दिया। इंगलैंड के एक कृषक परिवार में जेम्स वाट नाम का एक बालक रहता था। एक दिन वह खाली बैठा हुआ केटली (टोंटीदार बटलोई) की ओर देख रहा था। वाष्प-शक्ति से केटली के उठते और गिरते हुए ढक्कन ने उस के कौतूहल को बढ़ा दिया। वह उसके साथ और भी खेल करने लगा। ढक्कन को हाथ से दबाने पर उसका वाष्प-शक्ति का अनुभव और भी पुष्ट हो गया। उसने सोचा कि जब थोड़ी सी भाप ढक्कन को उठा सकती है तो यदि उसका नियमित रूप से प्रयोग किया जावे तो उससे बहुत कुछ काम हो सकता है। वह सन् १७६५ में वाष्प-

शक्ति द्वारा संचालित एक साधारण सा यंत्र बनाने में सफल हुआ। किंतु वह उसे चलते हुए इंजन का रूप न दे सका। उसके पश्चात् जार्ज स्टीफेनसन ने सन् १८३० में 'राकेट' नामक ऐंजिन बनाया। इसने पहले-पहल मनुष्य और पशुबल के स्थान में वाष्प-बल का प्रयोग किया और अपने ऐंजिन की सहायता से "मैनचेस्टर-लिवरपूल" नामक रेल चलाई। यह १५ मील प्रति घंटा की चाल से चलती थी। इस रेलगाड़ी को देखने की सब को उत्सुकता थी। मनुष्य उस समय इसके संचालन को दैवी प्रेरणा का फल समझते थे। स्वयं महारानी विक्टोरिया ने इस नवीन आविष्कृत सवारी में यात्रा करके अपना अहोभाग्य समझा था।

उस समय की रेल-गाड़ियाँ बड़े भोंडे ढंग की थीं, किराया भी अधिक था। धीरे-धीरे इनमें अधिक उन्नति होने लगी और अब तो ये ६० मील प्रति घंटे से भी अधिक तेज़ चलने लगी हैं। अब रेलों का प्रचार सब देशों में हो गया है। भारतवर्ष में लार्ड डलहौज़ी के शासन काल में रेल की पहली सड़क बनाई गई। तब से समस्त देश में रेल की लाइनें जाल की तरह फैल गई हैं। बंबई और कलकत्ता जैसे विशाल नगरों से लेकर छोटे-छोटे गाँवों तक में रेल की सड़कें बनी हुई हैं, जिनसे समस्त देश एक सूत्र में बँध गया है। भारतवर्ष में ई. आई. आर., बी. वी. ऐंड. सी. आई., जी. आई. पी. तथा एन. डबल्यू. आर. आदि अनेक रेलवे लाइनें हैं।

रेलगाड़ियों के प्रकार

रेलगाड़ियाँ प्रायः दो प्रकार की होती हैं—एक माल ढोने की और दूसरी सवारी ले जाने वाली। सवारी ले जाने वाली गाड़ियों में गति के सम्बन्ध से डाकगाड़ी, एक्सप्रेस और सवारी गाड़ी आदि कई प्रकार हैं। डाकगाड़ी की चाल बहुत

तेज़ होती है और वह वहुत कम स्टेशनों पर ठहरती है। एक्सप्रेस गाड़ी की चाल डाकगाड़ी से कुछ कम होती है, और वह डाकगाड़ी से कुछ अधिक स्टेशनों पर ठहरती है। साधारण सवारी गाड़ी की चाल इन दोनों से कम होती है और वह छोटे बड़े प्रत्येक स्टेशन पर ठहरती है। सवारियों के आराम के हिसाब से रेल के डब्बों की चार श्रेणियाँ होती हैं—पहला दर्जा, दूसरा दर्जा, ड्योढ़ा दर्जा और तीसरा दर्जा। आराम के हिसाब से किराया भी अधिक खर्च करना पड़ता है। कई गाड़ियों में खाना खाने के डिब्बे भी साथ लगे रहते हैं, जिनमें वैठकर आराम से भोजन कर सकते हैं। यद्यपि तीसरे दर्जे के लोगों को वहुत कम सुविधाएँ रहती हैं तथापि उनके भी आराम का थोड़ा वहुत ख़याल रक्खा जाता है। अब तो यात्रियों की सुविधा के लिए मुख्य-मुख्य स्थानों से ऐसी गाड़ियाँ भी चलती हैं जो भारत के प्रधान तीर्थ-स्थानों की सैर करा देती हैं।

रेलगाड़ियों में प्राय: सभी प्रकार के डब्बे रहते हैं और एक ऐंजिन आगे लगा रहता है। यह ऐंजिन धुएँ के वादल उगलता हुआ वायु के वेग से सबको खींच ले जाता है। कभी-कभी, जब डब्बे अधिक होते हैं, या चढ़ाई होती है तो पीछे भी ऐंजिन लगा दिया जाता है।

रेलवे स्टेशन

जिस स्थान पर रेल खड़ी होती है उसको स्टेशन कहते हैं। वड़े-वड़े स्टेशनों पर ऐंजिनों में कोयला और पानी भरा जाता है, और कहीं-कहीं पर ऐंजिनों, ड्राइवरों और गार्डों की वदली भी होती है। वड़े-वड़े स्टेशनों पर प्राय: सभी आवश्यक वस्तुएँ मिल जाती हैं। गाड़ी आने से पूर्व प्लेटफार्म पर यात्रियों की खूब चहल-पहल रहती है। रेल की इन्तज़ारी का एक अपूर्व दृश्य होता है। कभी-कभी तो धूप में तपस्या भी करनी पड़ती है। पानी पिलाने वाले और खोंचे वालों की आवाज़

चारों ओर सुनाई पड़ती है। कहीं से दो पैसे गिलास लस्सी की आवाज आती है तो कहीं आलू-छोले और पूड़ी वाले की पुकार सुनाई पड़ती है। रेल के आजाने पर यात्रियों की दौड़-धूप खूब मच जाती है और तीसरे दर्जे के डब्बों पर तो जीवन-संग्राम सा होने लगता है।

उपसंहार

रेल की संस्था बड़े महत्त्व की है। रेल से हानियाँ कम हैं, और लाभ अधिक हैं। भारतवर्ष में रेल ने मानवी जीवन-संग्राम को एक विशेष उत्तेजना दे दी है। व्यापारिक प्रतियोगिता बढ़ गई है। दुर्भिक्ष के दिनों में रेल से बड़ा उपकार होता है। दुर्भिक्ष-पीड़ित स्थानों में आदमियों के लिए अनाज और जानवरों के लिए चारा बड़ी सुविधा के साथ पहुँचाया जाता है। रेल ने भारतवासियों के प्रान्तीयभाव तथा छुआछूत के भावों को दूर करने में भी योग दिया है। बहुत से बेरोज़गारों को भी रोज़गार में लगाया है। जब कभी अभाग्य-वश रेल में दुर्घटना हो जाती है—दो गाड़ियाँ टकरा जाती हैं अथवा गाड़ी पटरी पर से उतर कर उलट जाती है—तब भयंकर जन-नाश होता है, और उस समय का दृश्य बड़ा हृदय-विदारक होता है। पर ऐसी घटनाओं का अंदेशा क्रमशः कम होता जाता है।

हवाई जहाज

उड़ने का इतिहास

मनुष्य बहुत काल से उड़ने का स्वप्न देखता चला आया है। उसने जल और स्थल पर बहुत काल से विजय प्राप्त कर ली थी किन्तु आकाश अभी उसके लिए एक प्रकार से दुर्गम ही रहा था। यद्यपि प्राचीन काल में हम वायुयानों का वर्णन पढ़ते हैं तथापि हमको

यह नहीं मालूम कि वे किस प्रकार के होते थे। वे भौतिक बल से चलते थे अथवा योग-बल से। यदि प्राचीनकाल में यह कला थी भी, तो बहुत काल से लोग इसे भूल गए थे पर इसमें कौशल प्राप्त करने के लिए उत्सुक थे। देवताओं के विमानों तथा कथाओं के उड़न-खटोलों का एवं परियों के इन्द्र-लोक में आने जाने का वर्णन पढ़ और सुनकर मनुष्य का मन गगन-विहारी बनने के लिए लालायित रहता था। कभी-कभी लोग स्वप्न में उड़ भी लिया करते थे। मनुष्य की बनाई हुई चीज़ों में लोग पतंग को उड़ते हुए देखते थे। उसके अतिरिक्त हलकी हवा में भरे हुए गुब्बारे भी उड़ते दिखाई पड़ते थे। ये गुब्बारे क्रमशः बड़े बनने लगे और उनमें हाईड्रोजन आदि हलकी गैसों का प्रयोग होने लगा, जिससे वे अग्नि और धुएँ पर निर्भर न रह कर चिरकाल तक आकाश में स्थित रहने के योग्य बन गए। मनुष्य उनमें बैठकर उड़ने भी लगे; किन्तु गुब्बारों में मनुष्य वायु के अधीन था, जिधर वायु ले गई उधर ही वे चले गए। फिर गुब्बारा सहज में उतरता भी न था, उससे कूदने के लिए छाते लगाने पड़ते थे। इन कठिनाइयों को देखकर वैज्ञानिक लोग इस बात के उद्योग में लग गए कि वे ऐसे यान बनावें जो यन्त्र-बल के कारण वायु के अधीन न रहें अर्थात् उनकी गति की दिशा और उनका क्रम इच्छानुकूल बदला जा सके। गति को नियन्त्रित करने के लिए एक विशेष प्रकार की संचालकशक्ति की आवश्यकता थी। रेल और जहाजों में वाष्प की संचालक-शक्ति का प्रयोग होता था, किन्तु वाष्प के एंजिन हलके नहीं बन सकते थे। वाष्पशक्ति से चलने वाली एक हवाई नाव बनाई भी गई थी, किन्तु वह सफल न हुई। इन्हीं दिनों में पेट्रोल-एंजनों का आविष्कार हुआ था। ये हलके होने के कारण सुगमता से हवाई यानों में रक्खे

जा सकते थे। सन् १९०३ में एक उड़ाकू पहली बार पैट्रोल का एंजिन लगा कर थोड़ी देर तक उड़ा था।

वर्तमान वायुयानों के उड़ने का सिद्धांत तथा उनकी बनावट

शुरू शुरू में हवाई जहाजों में गैस भी रहती थी और एंजिन भी रहता था; किंतु उड़ने वाले वैज्ञानिकों ने चिड़ियों के उड़ने का विशेष अध्ययन कर इस बात का निश्चय किया कि उड़ने के लिए हवा से हलका होना आवश्यक नहीं है। चिड़िया अपने परों को फटफटा कर हवा में वेग उत्पन्न कर लेती है और वह वेग उनको ऊपर उठाए रहता है। जहाजों और मोटर-नौकाओं के पंखे पानी में पीछे की ओर से वेग उत्पन्न कर जहाज़ों और नौकाओं के आगे बढ़ाते हैं। जो चीज़ ज़रा ऊपर को उठी होती है वह पीछे से वेग मिलने पर ऊपर की ओर उठती चली जाती है। चिड़ियों का भी मुँह ऊपर को उठा रहता है। इसी सिद्धांत के अनुसार हवाई जहाजों में केवल दो पहिए होते हैं और वे इस प्रकार रक्खे जाते हैं कि हवाई जहाज मोटर की शक्ति से थोड़ी दूर स्थल पर चलकर हवा में ऊपर उठने लगते हैं। अब तो हवाई जहाजों की गति का पूरी तौर से नियन्त्रण ही नहीं होने लगा है, वरन् वे नट की तरह आकाश में कलाबाज़ी भी खाने लगे हैं। इन पहियों के ऊपर हवाई जहाज का शरीर होता है जो कि मछली या लौकी के प्रकार का होता है। इसी लौकी वा मछली के आकार वाले शरीर में दो पंख लगे होते हैं। जिन वायुयानों में परों की एक पंक्ति होती है वे मोनोप्लेन कहलाते हैं और जिन में दो पंक्तियाँ होती हैं वे बाईप्लेन कहलाते हैं। अब ऐसे भी वायुयान बने हैं जो स्थल पर न चल कर जल के ऊपर से हवा में उठते हैं। भविष्य में हवाई बाईसिकलें बन जाने की भी संभावना है।

वायुयान के अनेक लाभ हैं। इसकी गति मोटर और रेल की गति से अधिक तेज़ होती है। वायुयान तीन चार सौ मील प्रति घंटे की गति से चल सकते हैं। इनके लिए रास्ते में कोई रुकावट नहीं होती। तीर की तरह सीधा जाने के कारण दूरी को और भी जल्दी तय कर लेते हैं। इनके लिए न सड़क बनवाने की आवश्यकता है और न पुल बँधवाने की। वायुयान के कारण महीनों का सफ़र हफ्तों का हो गया है। अब विलायत से एक हफ्ते में ही डाक आ-जा सकती है और पार्सल आदि भी भेजे जा सकते हैं। वायुयान द्वारा समय की ही बचत नहीं हुई वरन् इसके कारण बहुत से दुर्गम स्थान भी सुगम हो गए हैं। इसके द्वारा बद्री केदारनाथ जी की यात्रा भी दुर्गम नहीं रही। वायुयान की उपयोगिता बढ़ाने के लिए बेतार के तार का भी साथ ही साथ आविष्कार हो गया था। बेतार के तार द्वारा संसार का भी पता रह सकता है।

वायुयान के लाभ

युद्ध के क्षेत्र में वायुयान का बहुत उपयोग होने लगा है। अब इसके कारण दुर्ग 'दुर्ग' (जिन में मुश्किल से जाया जावे) नहीं रहे। खाई भी दुश्मन की अधिक रक्षा नहीं कर सकती। हवाई जहाजों द्वारा सारी सैनिक परिस्थिति का ही अवलोकन नहीं हो सकता वरन् उन पर से बम-वर्षा कर संहार भी किया जा सकता है। यह विज्ञान का दुरुपयोग है। इस बम-वर्षा से बचना एक बड़ी भारी समस्या हो गई है। बम-वर्षा होने पर क्या करना चाहिए, इसका प्रदर्शन बड़े-बड़े शहरों में प्रायः किया जाता है। जिस प्रकार पहले ज़माने में राष्ट्र अपनी जल-शक्ति पर गर्व करते थे उसी तरह अब वे वायु-शक्ति पर गर्व करने लगे हैं। वर्तमान युद्ध में वायु-शक्ति में दुर्बल होने के कारण ही फ्रांस जर्मनी से पराजित हुआ।

वायुयान के सामाजिक उपयोग भी बहुत हैं। अब मित्रगण एक दूसरों के पास उड़ कर जा सकेंगे और उन्हें पंख न होने की शिकायत करने का अवसर न मिलेगा। डाक भी अब शीघ्रता से आने जाने लगी है। बिगड़ने-सड़ने वाली चीज़ें अब और भी अधिक शीघ्रता से स्थानान्तर में पहुँचाई जा सकेंगी। वायुयान की अभी बहुत-सी संभावनाएँ हैं जो भविष्य के गर्भ में छिपी हुई हैं। विज्ञान की बदौलत न जाने अभी कैसे-कैसे आश्चर्य-जनक चमत्कार देखने का अवसर मिलेगा।

ताजमहल

परिचय

यद्यपि ताजमहल की गणना संसार के सप्त आश्चर्यों में नहीं है, तथापि संसार की स्थापत्य-कला के इतिहास में इसका स्थान बहुत ऊँचा है। यदि इसको संसार का आठवाँ आश्चर्य कहें तो असत्य न होगा। मुगल-सम्राट् शाहजहाँ ने यह समाधि-मंदिर अपनी प्रियतमा मुम-ताज महल के नश्वर शरीर को एक दिव्य आश्रय देने के लिए बनवाया था। मुमताज महल के संबंध से ही इसका नाम ताजमहल पड़ा। यह एक प्रेमी के हृदयंगत शोक की निर्मल प्रस्तर मूर्ति है। अंगरेज़ी में इस को 'A dream in marble' अर्थात् संगमरमर में रचा हुआ स्वप्न कहा जाता है। वास्तव में यह स्वप्नलोक की सी वस्तु प्रतीत होती है; तभी किम्वदन्ती भी है कि शाहजहाँ ने इसका नकशा पहले-पहल स्वप्न में ही देखा था।

यह विशाल समाधि-मंदिर यमुना के तट पर शांत और निस्तब्ध

वर्णन

वातावरण में स्थित है। यद्यपि इसका धवल सौध कई मील की दूरी से दिखाई पड़ता है, तथापि इसका पूर्ण सौन्दर्य निकट जाने से प्रतीत होता है। पर्वत और युद्ध की वार्ता की भाँति यह दूर से ही रम्य नहीं है, वरन् जितना ही इसके निकट जाओ उतना ही सुन्दर प्रतीत होता है। ताजमहल तक पहुँचने के लिए हम को एक बृहत्काय लाल पत्थर के द्वार में से होकर जाना पड़ता है। इस पर कुरान-शरीफ की आयतें श्वेत पत्थर के अक्षरों में इस अनुपात में लिखी हुई हैं कि ऊपर नीचे के सब अक्षर एक आकार के दिखाई पड़ते हैं। प्रवेश द्वार से निकल कर हम फव्वारों और सुंदर सर्व के पेड़ों को पार करते हुए इस विशाल प्रासाद की संगमरमर निर्मित चौकी तक पहुँच जाते हैं। जब ज़ीने में होकर चौकी के ऊपर पहुँचते हैं तो वहाँ हमको एक सुडौल इमारत के तथा उसके चारों कोनों की चार मीनारों के दर्शन होते हैं। वहाँ पहुँचते ही हम को विशालता और सौंदर्य के साथ साथ पुण्य दर्शन मिलते हैं। इस के प्रत्येक दरवाज़े पर कुरान की आयतें काले पत्थर के अक्षरों द्वारा अंकित हैं। इस विशाल भवन का पूर्ण सौंदर्य शरद्-ज्योत्स्ना के आलोक में दिखाई पड़ता है, किंतु सूर्य के प्रकाश में भी इसके ऊपर के भाग में जड़े हुए दीप्त प्रस्तर-खंडों की चमक-दमक मन को आकर्षित कर लेती है। चाँदनी रात में तो ये दीप्त प्रस्तरखंड नभ-मंडल के उज्ज्वल प्रकाशमय नक्षत्रों की प्रतिमूर्ति से प्रतीत होते हैं। भीतर जाकर हम पच्चीकारी के काम के अपूर्व नमूने देखते हैं। ऊपर नीचे सब एक-सा काम है। नाना-प्रकार की फूल-पत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। भीतर संगमरमर के जड़ाऊ कटघरे के भीतर दो सुन्दर कब्रें दृष्टिगोचर होती हैं। उस विशाल भवन में

प्रतिध्वनि बड़ी देर तक सुनाई पड़ती है। नीचे एक अँधेरी गुफा में असली कबरों के दर्शन होते हैं। वहाँ पूर्ण शांति का साम्राज्य दिखाई पड़ता है। मृत्यु का चिर मौन उस गुफा में मूर्तिमान दिखाई पड़ता है।

कहा जाता है कि इस विशाल भवन के निर्माण के लिए भारतवर्ष, फ़ारिस तथा इटली के कुशल से कुशल कारीगरों ने काम किया है। १७ वर्ष तक २००० आदमी प्रतिदिन काम करके इस भवन के निर्माण में सफल हुए थे।

ताजमहल भारतीय शिल्प-कला का अपूर्व उद्योग है। ३०० वर्ष के ऋतु-संबंधी परिवर्तनों तथा मेह और धूप को सहता हुआ यह मंदिर आज तक नया सा प्रतीत होता है। यद्यपि कोई सांसारिक पदार्थ काल के प्रभाव से नहीं बचता, तथापि इस भवन के संबंध में काल की गति स्थगित-सी हुई प्रतीत होती है। यह सुन्दर भवन चिरकाल तक मुग़ल-साम्राज्य के ऐश्वर्य तथा उस समय के कला-कौशल का परिचय देता रहेगा।

उपसंहार

लाहौर

लाहौर रावी नदी के बाएँ तट पर बसा हुआ है। यह बहुत पुराना और ऐतिहासिक नगर है। इसका पहला नाम लवपुर था जो, जनश्रुति के अनुसार, श्रीरामचन्द्र के पुत्र लव के नाम पर पड़ा था। यह हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख शासकों की राजधानी रहा है। सिक्खों की शक्ति नष्ट हो जाने के बाद उन्नीसवीं

नामकरण और इतिहास

सदी में अंग्रेज़ों ने इस पर अधिकार किया और तब से यह नगर पंजाब प्रांत की राजधानी है। इस समय इसकी जनसंख्या चार लाख के लगभग है।

लाहौर की भौगोलिक स्थिति भी महत्त्वपूर्ण है। नार्थ वैस्टर्न रेलवे का मुख्य केन्द्र होने के कारण बंबई, कराची, कलकत्ता और पेशावर की रेलवे लाइनें यहाँ मिलती हैं। यही कारण है कि लाहौर में व्यापार दिनोंदिन उन्नत होता जा रहा है।

वर्णन

पुराने लाहौर के चारों ओर पक्की दीवार बनी हुई थी। नगर में प्रवेश करने के लिए ऊँचे तथा चौड़े १२ दरवाज़े बनाये गए थे। ये नगरद्वार अब भी विद्यमान हैं, किन्तु दीवार सन् १६०६ में गिरा दी गई थी। शहर के पुराने भाग में प्रायः सब मकान पुराने ढंग के बने हुए हैं। सड़कें और गलियाँ भी तंग-सी हैं। नगर के उत्तर भाग में किला और उसके पास ही बादशाही मस्जिद है। इन दोनों के बीच में महाराजा रणजीतसिंह की समाधि है। नगर के इस भीतरी भाग के बाहर की ओर नवीन लाहौर बसा है। लुहारी दरवाजे के बाहर से अनारकली का बाज़ार आरंभ होता है। यह नवीन ढंग का बना हुआ है। अनारकली के अन्तिम भाग पर दाईं ओर पंजाब-विश्वविद्यालय का कार्यालय, पुस्तकालय तथा अन्य भवन हैं, और उनके आस-पास कई स्कूल, कालेज और उनके छात्रावास हैं।

अनारकली बाज़ार में प्रायः शाम के समय बड़ी चहल-पहल रहती है। बाज़ार में दोनों ओर की सजी हुई दुकानें बिजली की रोशनी से जगमगाती रहती हैं। ताँगों, साइकलों और मोटरों आदि की चहल-पहल का समय भी शाम को ही होता है।

दूसरी ओर ठंडी सड़क के दृश्य आरंभ होते हैं। इस सड़क

के दोनों ओर बड़ी-बड़ी इमारतें हैं। सब से पहले सड़क की दाईं ओर मेयो स्कूल आफ़ आर्ट्स और अजायबघर हैं। ठीक अजायबघर के पास ही चौराहे पर एक बहुत पुरानी तोप पड़ी है, जो "भंगियों की तोप" के नाम से पुकारी जाती है। अंग्रेज़ों ने यह तोप सिक्खों से जीती थी। इस तोप का वर्णन रुडेयर्ड (Rudyard Kiplin) ने अपने किम (Kim) नामक उपन्यास में किया है। पास ही गोल बाग है, जिसमें स्वर्गीय लाला लाजपतराय जी की मूर्ति स्थापित है।

अजायबघर से आगे चल कर जनरल पोस्ट आफ़िस, बैंकों के विशाल भवन, पंजाब हाईकोर्ट, अंग्रेज़ी दुकानें, बड़े बड़े होटल आदि दृष्टिगोचर होते हैं। इसी ठंडी सड़क पर कुछ ही दूर आगे चलने पर बाईं ओर महारानी विक्टोरिया की मूर्ति है और इसके पीछे पंजाब असैंबली का नया भवन बना है। कुछ दूर आगे चल कर दाईं ओर चिड़ियाघर है। यह लगभग एक मील के घेरे में फैला हुआ है। इस में देश-देशान्तर से इकट्ठे किए हुए सिंह, बाघ, भेड़िये, मृग आदि भाँति-भाँति के पशु और अनेक प्रकार के पक्षी दर्शकों के मनोरंजन के लिए विद्यमान हैं। इसके पीछे की ओर एक सुंदर विस्तृत उद्यान है, जिसे "लारेंस गार्डन" कहते हैं। सवेरे और शाम यहाँ घूमने वालों की खूब रौनक रहती है। लारेंस गार्डन के सामने दूसरी ओर पंजाब के गवर्नर की कोठी है।

इसके अतिरिक्त मेयो हास्पिटल, निस्बतरोड, ग्वालमंडी बाज़ार, लोअरमाल, चौबुर्जी आदि भी दर्शनीय हैं। बारह दरवाज़ों के बाहर बने हुए इस नवीन लाहौर के अतिरिक्त सन्तनगर, कृष्णनगर, रामनगर, माडलटाउन आदि अनेक नयी बस्तियाँ बस गई हैं। ये बस्तियाँ भी लाहौर के ही अन्तर्गत हैं।

लाहौर का रेलवे स्टेशन भी बहुत अच्छा बना हुआ है और कितनी ही लाइनें यहाँ से भिन्न-भिन्न शहरों को जाती हैं। स्टेशन से २-३ मील की दूरी पर रेलवे की बड़ी भारी वर्कशाप है, जो लगभग ८ मील के घेरे में है। शहर से ६ मील की दूरी पर छावनी है, जिसे मियाँमीर कहते हैं।

लाहौर शहर के पूर्व की ओर ५-६ मील की दूरी पर शालामार बाग है। यह बाग मुग़ल बादशाहों ने बनवाया था। इसमें अनेक फव्वारे हैं जो अब ऐतवार को ही चलते हैं। यहाँ का कृत्रिम दृश्य बहुत अच्छा है। कहते हैं कि महाराजा रणजीतसिंह दिन का अधिक भाग इसी बाग में बिताया करते थे। इसके पास ही वीर बालक हकीक़तराय की समाधि है। इस समाधि पर प्रति वर्ष वीर हकीकत-राय की पवित्र स्मृति में हिन्दुओं का बड़ा भारी मेला लगता है।

रावी नदी के दाएँ किनारे पर शाहदरा नाम का स्थान बसा हुआ है। शाहदरा के पास जहाँगीर का दर्शनीय मक़बरा है। शाहदरा के चारों कोनों पर चार मीनारें हैं। इन मीनारों पर से लाहौर का दृश्य बड़ा सुन्दर लगता है।

उपसंहार

लाहौर नगर की प्रधानता का मुख्य कारण यह है कि यह पंजाब का शिक्षा-केन्द्र है। स्थानीय कालेजों और स्कूलों में प्रति वर्ष हज़ारों विद्यार्थी प्रविष्ट होते हैं। यहाँ लड़के और लड़कियों के मिला कर लगभग १५ कालिज हैं। पंजाब की रियासतों के राजकुमारों की शिक्षा के लिए यहाँ एक चीफ़्स कालेज भी है।

यहाँ का जलवायु स्वास्थ्यकर है। जाड़े और गर्मी के दिनों में शीत और उष्ण का आधिक्य होते हुए भी यह नगर अपनी शोभा के कारण दर्शनीय है।

लाहौर में रावी-तट की सैर

बड़े शहरों में सवेरे का भ्रमण केवल शौक की ही चीज़ नहीं है वरन् वह वर्तमान समय की आवश्यकता है। शहरों का जीवन इतना तंग, कृत्रिम और जकड़ा हुआ है कि उनमें रहने वालों का जीवन कारागार का सा हो जाता है। यदि वे लोग थोड़ी देर को शहर से बाहर जाकर खुली हवा में न रहें और स्वाभाविक जीवन व्यतीत न करें तो उनका जीवन भार शायद असह्य हो जावे। लाहौर में बाहर घूमने के स्थानों की कमी नहीं है। उन में से, रावी तट भी एक सुरम्य स्थान है। रावी की सैर के लिए लोग प्रायः पैदल जाया करते हैं। किन्तु जो लोग शरीर को अधिक कष्ट दिए बिना ही रावी तट की सैर का आनन्द लेना चाहते हैं उनके लिए लारी तांगे हर समय मौजूद मिलते हैं। किंतु जो आनन्द पैदल चलने में आता है वह लारी या तांगे पर नहीं आता। पैदल चलने वाले लोगों को पद-पद पर जीवन के हास्यमय दृश्य मिलते हैं। जान-पहचान वालों से दुआ-सलाम, जय रामजी की, नमस्ते आदि होती है, घर-बार की कुशल-वार्ता पूछी जाती है और अपने अपने विभाग की नीति की भी स्वतन्त्रतापूर्ण आलोचना होती है। रावी के रास्ते में लोग कृत्रिम बन्धनों से मुक्त हो स्वाभाविक मनुष्य बन जाते हैं। कोई भागता हुआ चलता है तो कोई निरुद्देश्य रूप से धीरे धीरे घूमता है। कोई ऊँची धोती बाँधे है तो कोई आधी धोती कंधे पर डाले होता है। कोई गाता है तो कोई बच्चों की भाँति उछलता कूदता है। इस प्रकार हर तरह की स्वाभाविकता और स्वतन्त्रता रहती है, जिस से मनुष्य के जीवन का भार कुछ हलका हो जाता है।

रावी तट पर पहुँच कर एक अपूर्व शोभा दिखाई पड़ती है।

जो लोग प्रातःकालीन आलस्य पर विजय पाकर ज़रा सवेरे पहुँच जाते हैं वे प्रातकाल की उगती लाली देखकर अपना चित्त प्रसन्न कर लेते हैं। जब रावी के जल पर सूर्य की प्रातःकालीन किरणें पड़ती हैं, उस समय का दृश्य वास्तव में दर्शनीय होता है। नदी के किनारे उस ओर विस्तृत मैदान दिखाई पड़ता है। वहाँ थोड़ी बहुत अनन्तता और विशालता की भावना की भी तृप्ति होती है। नदी तट पर लोग स्नान की तैयारी में इधर-उधर फैले दिखाई पड़ते हैं। सभी संप्रदायों के अनिर्वाचित अथवा स्व-निर्वाचित प्रतिनिधि वहाँ मौजूद रहते हैं। घोर आर्यसमाजी जो कर्तव्य-परायणता की मूर्ति प्रतीत होते हैं, भजनानन्दी सनातनधर्मी जो भक्ति-भावना में मस्त दिखाई पड़ते हैं और हृष्ट-पुष्ट सरदार जी जो धर्म के साथ शक्ति का समन्वय करते हुए मालूम पड़ते हैं, सब मौजूद होते हैं; उन के पवित्र दर्शन कर लीजिए।

नदी के किनारे पर एक बगीची भी है। वह एक प्रकार की व्यायामशाला है। उस में लोग शरीर पर तेल मलते और दंड मुद्गर आदि नाना प्रकार की देसी कसरतें करते दिखाई पड़ते हैं। वहाँ बैठे हुए लोग फ़ुरसत और बेफ़िक्र की मूर्ति दिखाई पड़ते हैं। वहाँ शहर की दौड़-धूप-मय एक दूसरे को नीचा दिखाने वाली प्रतिद्वन्दिता का सुखद अभाव प्रतीत होता है। सब के चेहरे पर सुख और शान्ति की प्रसन्नता झलकती है।

रावी तट पर तीर्थ-स्थानों के से घाट नहीं बने हुए, किंतु इससे उस की शोभा कुछ कम नहीं होती वरन् स्वाभाविकता के कारण बढ़ ही जाती है। स्नान करने वालों में कई श्रेणियों के लोग मिलते हैं; कोई तो स्नान को पूजा के एक प्रारंभिक कार्य की दृष्टि से करते हैं और कोई क्रीड़ा के रूप में करते हैं। नवयुवक प्रायः

क्रीड़ा और व्यायाम की भावना से ही वहाँ जाते हैं। छोटी-छोटी नावों में नवयुवक पतवार चलाते हुए दिखाई पड़ते हैं। वह दृश्य बहुत सुन्दर होता है। कुछ नदी में तैरने की शिक्षा लेते दृष्टिगोचर होते हैं। जो लोग अब तक प्रातः-पर्यटन को न जाते हों उन्हें भी एक बार उस दृश्य को देखकर रोज़ प्रातः-पर्यटन का और रावी तट की सैर का निश्चय करना चाहिए।

स्नानार्थियों में अधिकतर वृद्धा स्त्रियाँ होती हैं जो बहुत सवेरे नदी पर पहुँच जाती हैं और जिस समय साधारण जन रावी-तट पर सैर के लिए जा रहे होते हैं उस समय वे हाथ में जल का लोटा और माला लिये हरि-नाम जपती हुई वापिस लौटती दिखाई देती हैं। आते समय वे रास्ते में बैठे हुए साग-भाजी वेचने वालों से खरीदे सौदे को भी साथ लें अपने-अपने घर पहुँचती हैं।

सब लोग अपनी अपनी धुन में मग्न दिखाई देते हैं। स्नान करके कई लोग आसन जमाकर 'ओ३म् शन्नो देवी' वाली सन्ध्या करते हैं, कई भाषा में ही हरि-गुण-गान करते हैं, और कई 'हरे राम, राम राम, हरे हरे' की रट लगाते हैं। उन लोगों को देखकर बहुत से तो उनको 'वगुला-भगत' की पदवी से विभूषित करते हैं और बहुत से ऐसे भी होते हैं जो अपनी अधार्मिकता पर ग्लानि प्रकट करते हैं।

इस तरह प्रातः समय रावी तट पर पर्याप्त भीड़ दिखाई देती है। आप रावी तट पर चाहे जिस भावना से जाइए, चाहे व्यायाम के लिए, चाहे मस्तिष्क को आराम देने की दृष्टि से, चाहे धार्मिक भावना से, आपकी सभी भावनाएँ पूरी होंगी।

'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।'

वसन्त ऋतु

हिन्दुओं के काल-वर्णन में वर्ष के छः विभाग किये गये हैं, जो ऋतु कहलाते हैं। सूर्य के पृथ्वी से निकट या दूर होने के कारण पृथ्वी पर सर्दी और गर्मी के जो परिवर्तन होते हैं, उन्हीं के आधार पर ऋतुओं का विभाग किया गया है। वसन्त ऋतु सब से पहली ऋतु मानी गई है। वसन्त के ही आरंभ से वर्ष का आरंभ होता है। वसन्त ऋतु को ऋतुराज भी कहते हैं।

इस ऋतु में न अधिक सर्दी होती है और न गरमी। शिशिर के बीत जाने के बाद प्रकृति का एक प्रकार से पुनर्जन्म सा होता है। वृक्ष पतझड़ में अपने पत्तों का त्याग करते हैं, उसके पुण्य-फल-स्वरूप वे वसन्त में नवीन कोंपल धारण कर पुष्पों और मंजरियों से विभूषित हो जाते हैं। यह पुष्प और मंजरियाँ केवल शोभा के ही साधन नहीं होते वरन् इनमें भावी फलों की शुभाशा भी रहती है। इस प्रकार इस ऋतु में सौंदर्य और उपयोगिता का एक अपूर्व आनन्दमय समन्वय हो जाता है। इसमें प्रकृति अपना नवीन कलेवर धारण कर लेती है। चारों ओर एक नवीन जीवन का संचार सा दिखाई देने लगता है। सरसों के फूलों के कारण शस्य-श्यामला पृथ्वी पीत-वसना हो बड़ी सुहावनी मालूम पड़ने लगती है। मधु से भरे आम के बौरों का सौरभ केवल मधुपों को ही नहीं वरन् चेतन मनुष्यों को भी मदोन्मत्त कर देता है। कोयल की मधुरिकामयी कुहू-कुहू अपने संगीत में प्रकृति के हर्षोल्लास को प्रकट करती है, मानों वह प्रकृति के फलवती होने पर अपने संगीत

द्वारा उसे बधाई सी देती प्रतीत होती है। चारों ओर अपूर्व शोभा की सामग्री दिखाई पड़ती है। बढ़ती हुई लताएँ बड़े-बड़े पेड़ों का आश्रय ले आनंद से लहलहाने लगती हैं।

वसंत ऋतु का प्राकृतिक हासोल्लास मानव-हृदय पर अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। शीत और उष्ण की समता के कारण मनुष्य में एक अपूर्व स्फूर्ति हो जाती है, जो प्रकृति की तत्कालीन स्फूर्ति के अनुरूप होती है। मनुष्य और प्रकृति का एक प्रकार से तादात्म्य हो जाता है। सारी प्रकृति और मानव-समाज में उत्साह का भाव व्याप्त हो जाता है। मनुष्य अपने उत्साह में नाना प्रकार के खेल-कूद करता है जो होली के अवसर पर अपने पूर्ण विकास को पहुँच जाते हैं। प्राचीन काल में होली का उत्सव वसंतोत्सव के नाम से ही प्रख्यात था। इसमें नाना प्रकार के नाच गान होते थे और नये-नये नाटक भी खेले जाते थे। यह समय काव्यादि रचने के लिए बड़ा उपयोगी समझा जाता है और इसीलिए वसंतपंचमी पर सरस्वती-पूजा हुआ करती थी। बंगाल में यह सरस्वती-पूजा अब भी बड़ी धूमधाम से मनाई जाती है।

वसंत ऋतु का नाम कुसुमाकर भी है। प्रकृति के पुष्पित होने के साथ-साथ इस ऋतु की अलौकिक शक्ति से सब चीजें कुछ का कुछ रूप धारण कर लेती हैं और उनके साथ हमारा मन भी कुछ और ही हो जाता है। देखिए, एक कवि ने इस संबंध में क्या ही सुंदर उक्ति कही है:—

और भाँति कोकिल चकोर ठौर-ठौर बोलें
और भाँति शब्द पपीहानन के है गए।
और भाँति पल्लव लिये हैं वृन्द वृन्द तरु
और छवि पुंज कुंज कुंजन उनै गए॥

औरे भाँति शीतल सुगन्ध मन्द डोलै पौन
'द्विज देव' देखत न ऐसे पल है गए।
औरे रति औरे रंग औरे साज औरे संग।
औरे वन औरे छन औरे मन है गए॥

वर्षा-वर्णन

वसन्त ऋतु के बाद सूर्य उत्तरायण की ओर होता है, इस कारण भीषण गरमी पड़ती है। इस समय पृथ्वी जलने लगती है, पेड़-पौदे झुलस जाते हैं, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि चराचर सब व्याकुल हो जाते हैं। गर्मी की भीषणता से नदी-नाले, झील-पोखरे और समुद्र सूखने लगते हैं। यही जल वाष्प का रूप धारण कर आकाश में उड़ जाता है और फिर ठंडक मिलने से यह वाष्प बादल बनकर मेंह के रूप में बरसने लगता है। जब नीले-नीले मेघ गर्जन तर्जन करते हुए अपने जीवन (जल) द्वारा सब-जंतुओं को नया जीवन देने लगते हैं तो वर्षा ऋतु प्रारम्भ हो जाती है और जीवन शब्द का अर्थ सार्थक होजाता है। साधारण गणना में वर्षा ऋतु आपाढ़ से क्वार (आश्विन) तक रहती है। इस समय हिंदमहासागर से मानसून उठती हैं। यह मानसून उत्तर की ओर बढ़ने लगती है; और हिमालय पर्वत से टकराकर बरस जाती है। उस समय पहाड़ों की बड़ी मनोहारिणी शोभा होती है। बादल मनुष्यों के बीच में भेड़ बकरी के समान चलते हुए दिखलाई पड़ते हैं और पत्थरों से टकरा कर जल के रूप में बरस जाते हैं। इन चार महीनों में खूब मूसलाधार वर्षा होती है। कभी-कभी अनेक

दिनों तक मेंह की झड़ी सी लगी रहती है, दिन भी रात्रि के समान दीखने लगता है, सूर्य के दर्शन भी दुर्लभ हो जाते हैं। समस्त पृथ्वी जलमग्न हो जाती है और ऐसा प्रतीत होता है कि समुद्र में बाढ़ ही आगई हो। वर्षा के बाद नील गगन-मंडल में इन्द्रधनुष की छटा बड़ी सुन्दर दिखाई पड़ती है।

पानी पड़ने के कारण चारों ओर हरियाली छा जाती है। तरह तरह के नये पौदे उगते हैं। वृक्षों और लताओं की बहार बड़ी सुखद और मनोहारिणी होती है। बागों, खेतों और हरे भरे मैदानों की अपूर्व छटा देखने को मिलती है। काले-काले फलों से लदे हुए जामुन के पेड़, मीठे, रस-भरे, हरे-पीले फलों के भार से झुके हुए आम के वृक्ष तथा नींबू और करोंदों की खुशबूदार झाड़ियाँ बड़ी भली प्रतीत होती हैं। ये सब वृक्ष, लताएँ और झाड़ियाँ पक्षियों के कलरव से सजीव हो जाती हैं। घनानन्दी मयूर की 'मेहूँ मेहूँ', स्वाति बिंदु के अनन्य प्रेमी पपीहा की 'पीउ पीउ' पुकार और आम के वृक्ष पर बैठने वाली कोयल की 'कुहू कुहू' ध्वनि एक अपूर्व संगीत उत्पन्न कर देती है। आकाश में बगुलों की पंक्तियाँ बिना द्वार के तोरण (बन्दनवार) से जान पड़ते हैं। पृथ्वी पर वीर बधूटियाँ बिखरे हुए माणिक-खंडों की भाँति दिखाई पड़ती हैं।

पावस (वर्षा ऋतु) की रात का दृश्य बड़ा डरावना होता है। रात घोर अंधेरी होती है। झींगुरों की झंकार और मेंढकों की टर्र-टर्र कानों को फाड़े डालती है। बीच-बीच में बिजली की कड़क दिल को दहला देती है और उसकी चमक आँखों को चौंधिया देती है। मेघों का गर्जन तोप के धड़ाके के सदृश प्रतीत होता है। बड़े वेग से बहती हुई अपने किनारों को काटती और वृक्ष-समूहों को उखाड़ती हुई नदियाँ भी बड़ा भीषण शब्द करती हैं।

लाभ

मनुष्य-समाज को वर्षाऋतु से अनेक लाभ हैं। कृषि-प्रधान भारतवर्ष का तो वर्षा ही आधार है। वर्षा से मनुष्यों के लिए अन्न ही पैदा नहीं होता, वरन् पशुओं के लिए चारे की इतनी अधिकता होजाती कि वर्ष-भर के लिए यथेष्ट होता है। कहीं कहीं वर्षा के पानी को बाँध इत्यादि से रोक कर उपयुक्त लाभ उठाया जाता है। मारवाड़ प्रभृति स्थानों में इस पानी को इकट्ठा कर पीने के काम में लाते हैं। गरमी के भीषण ताप से लोगों में जो सुस्ती समा जाती है, वह वर्षागम से दूर हो जाती है। वर्षा के मनोरम दृश्य मन पर अच्छा प्रभाव उत्पन्न करते हैं।

हानि

यद्यपि वर्षा ऋतु हमारे लिए बड़ी उपयोगी है, तथापि इस समय वायु के प्रकोप से हैज़ा, मलेरिया, मौसमी बुखार आदि भयंकर रोग पैदा होते हैं, जिनसे अनेकों मनुष्य काल-कवलित हो जाते हैं। कभी-कभी भीषण वर्षा से बाढ़ आजाती है, और गाँव, घर, चौपाये वह जाते हैं, सड़कें कट जाती हैं, रेलों के पुल टूट जाते हैं, और बहुत सा कार्य स्थगित हो जाता है। कभी अत्यधिक वर्षा से खेती मारी जाती है, मकान गिर पड़ते हैं। बिजली के प्रकोप से कभी-कभी अनेक मनुष्यों की अकाल मृत्यु हो जाती है। सड़कों पर जल और कीचड़ होने के कारण घर से बाहर निकलना या एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना बड़ा कठिन हो जाता है। खेल-कूद के लिए भी समय कम मिलता है। रात को डाँस और मच्छरों के मारे नींद नहीं आती। सच तो यह है कि जहाँ वर्षा से सुख है, वहाँ दुख भी है। निर्दोषता कहीं नहीं मिलती।

दशहरा

दशहरा शरद्-ऋतु के प्रधान त्यौहारों में से है। यह आश्विन (क्वार) शुक्ला दशमी को मनाया जाता है। इसको विजया-दशमी भी कहते हैं। यद्यपि यह हिंदुओं का जातीय-त्योहार है और इसको सभी हिन्दू बड़े उत्साह के साथ मनाते हैं, तथापि इसका क्षत्रियों से विशेष सम्बन्ध है।

दशहरा मनाये जाने का कारण

प्राचीन भारत में वर्षा-ऋतु यात्रा के लिए उपयुक्त ऋतु नहीं मानी जाती थी। प्रायः साधु-महात्मा, धर्मोपदेशक, वणिक्-व्यापारी, राजा-महाराजा वर्षा-ऋतु अपने स्थान पर ही बिताया करते थे। साधु लोगों का कोई विशेष स्थान न होने के कारण वे किसी अच्छे स्थान पर 'चातुर्मास' करते थे। बुद्धदेव के चातुर्मासों का बौद्ध-ग्रन्थों में वर्णन आता है। अब भी कुछ साधु लोग चातुर्मास मनाते हैं। वर्षा-ऋतु के चले जाने पर और शरद्-ऋतु के आ जाने पर ही व्यापारी लोग अपना माल लाद कर बाहर यात्रा के लिए जाया करते थे। इसी प्रकार क्षत्रिय लोग भी इस शुभ-दिवस पर अपनी विजय-यात्रा के लिए निकला करते थे। यह दिवस उत्साह का दिवस था। शरद्-ऋतु में विपत्ति रूपी बादलों की काली-काली घटाएँ विलीन हो जाती हैं और शुभ्रज्योत्स्नामय निरभ्र (बादल रहित) स्वच्छ गगन-मंडल मनुष्य के हृदय में आशा का संचार करने लगता है। इन्हीं प्राकृतिक कारणों से यह दिन शुभ माना गया है। इस दिवस जो कार्य आरम्भ किया जाता है, वह विजय-श्री से विभूषित होता है। इसी दिन श्रीरामचन्द्रजी ने लंका के राजा रावण पर विजय पाई थी। इसीलिए यह त्योहार विजया-दशमी के नाम से प्रख्यात है।

दशहरा कई प्रकार से मनाया जाता है। क्षत्रिय लोग इस दिन अपने अस्त्र-शस्त्रों का पूजन करते हैं। राजा लोगों की बड़ी धूम-धाम से सवारी निकलती है। उसमें उनकी फौज का प्रदर्शन होता है। रियासतों में दशहरे के दिन लोग एक दूसरे के घर मिलने जाते हैं। बंगाल में भी लोग ऐसा ही करते हैं। बंगाल प्रांत में इसको दुर्गा-पूजा के नाम से पुकारते हैं। प्राय: सभी प्रांतों में दशहरा से पूर्व के नौ दिन दुर्गा-पूजा के लिए विशिष्ट हैं। दशहरे के दिन कहीं-कहीं पर भैंसा आदि का बलिदान किया जाता है। संभवत: यह प्रथा श्री दुर्गादेवी के महिषासुर-वध की स्मारक है। यद्यपि इसका सम्बन्ध शक्ति-पूजा से है तथापि एक निरीह पशु के निर्दयता-पूर्ण वध से बलिदान करने वालों को कोई लौकिक वा पारलौकिक लाभ नहीं हो सकता। ऐसी प्रथा का उठ जाना ही वांछनीय है।

इसके मनाने के प्रकार

वैश्य लोग इस दिन अपने बही-खाते तथा तराजू बाट की पूजा करते हैं। ग्रामीण लोग इस दिन दुर्गा के भजन गाते हैं।

दशहरा रामलीला का अंतिम दिन होता है। इस रोज़ बड़ी धूम-धाम के साथ रावण-वध का अभिनय किया जाता है और रावण की बृहत्काय कागज़ की मूर्त्ति को जलाया जाता है। उसमें गोले और आतिशबाजी भर दी जाती है, उनमें आग लग जाने से ज़ोर का शब्द होता है और अग्नि की रंग-बिरंगी चिनगारियाँ निकलती हैं। इसके अतिरिक्त आतिशबाजी का भी प्रदर्शन किया जाता है। बड़े शहरों में दशहरे से पहले १५ दिन रामलीला की बड़ी धूम-धाम रहती है। कहीं मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी के जीवन-चरित्र का बड़े आकर्षक रूप से अभिनय किया जाता है

और उसमें संगीत के साथ रामायण का पाठ होता है। रामलीला देखकर भक्त लोगों के हृदयों में भक्ति-भावना का उद्रेक हो जाता है और वे बड़े प्रेम और उत्साह के साथ श्रीरामचन्द्र जी की जय बोलते हैं।

इसके सम्बन्ध में परंपरागत विश्वास

दशहरे के सम्बन्ध में और भी बहुत से परंपरागत विश्वास हैं। दशहरे के दिन राजा का दर्शन शुभ माना जाता है। बहुत से लोग नीलकंठ के भी दर्शन करते हैं। नीलकंठ शिवजी के नाम से समता रखने के कारण कल्याण-कारक माना जाता है। [शिव जी ने समुद्र-मंथन से निकले हुए विष को अपने गले में धारण किया था, इसी से उनका कंठ नीला हो गया था] लोगों का विश्वास है कि दशहरे के दिन नीलकंठ छिप जाता है। इस सम्बन्ध में बिहारी का एक दोहा भी है—

> काल दशहरा बीतिहै, धरि मूरख जिय लाज।
> डुरयो फिरत कत द्रुमन में, नीलकंठ बिन काज ॥

लोग दशहरे के दिन शमी (छयोंकर) वृक्ष की पूजा करते और उसके पत्ते एक दूसरे को अपनी शुभ कामनाओं के साथ बाँटते हैं। पंडितों में यह विश्वास प्रचलित है कि जो कोई दशहरे के दिन प्रातः काल के समय कमल पत्र पर खंजन पक्षी देख ले वह कवि हो जाता है। दशहरे के प्रातःकाल मीन आदि और भी शुभ चीज़ों के देखने की प्रथा है।

इसकी उपयोगिता

इस त्यौहार का बड़ा जातीय महत्त्व है। यह दिवस उस समय की स्मृति दिलाता है, जब हिन्दू जाति अपनी सभ्यता का अन्य देशों में प्रचार करती थी और जिस दिन एक भारतीय राजा ने सब से पहले

सुदूर लंका को विजय कर आर्य-साम्राज्य की नींव रखी थी । वे भारत के समृद्धि के दिन थे । उन दिनों की पुण्य-स्मृति से हम में जातीय-गौरव बढ़ता है । मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी की पवित्र लीलाओं का अनुकरण करने से हमारे हृदय में उनकी-सी पितृ-भक्ति और त्याग की भावना पैदा होती है । लक्ष्मण और भरत के से भ्रातृ-प्रेम, सती सीता के से पातिव्रत धर्म और वीर हनुमान के से उत्साह और सेवा-भाव से हमें प्रोत्साहन मिलता है । इस त्योहार के मनाने से हमारे हृदय में वीर-पूजा की भावना दृढ़ होती है और हमारा जातीय जीवन संगठित होता है ।

दीपावली

दीपावली मनाये जाने के कारण

दीपावली हिन्दुओं के मुख्य त्योहारों में से है । यह कार्त्तिक के महीने में प्रति वर्ष मनाया जाता है । इस समय तक खरीफ़ की फसल पक कर किसानों के घर में आती है और रबी की फसल के लिए बीज बोने का कार्य प्रारंभ हो जाता है । दीपावली का त्योहार मना कर किसान लोग अपना हर्ष प्रकट करते हैं । व्यापारी लोगों के लिए दीपावली ही से नव-वर्ष का प्रारंभ होता है । प्राचीन काल में जब रेल आदि की सुविधा न थी तब व्यापारी लोग प्राय: दीवाली या दशहरा ही से माल खरीदने के लिए बाहर जाया करते थे । इस त्योहार का लक्ष्मी-पूजा से विशेष सम्बन्ध है, अतएव वैश्य लोग इसे बड़ी धूमधाम से मनाते हैं । दीवाली ही के दिन मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान रामचन्द्र जी चौदह वर्ष के वनवास के बाद अयोध्या पधारे थे । उनके स्वागतार्थ अवध-वासियों ने जो उत्सव मनाया था

उसी हर्षोल्लास की आवृत्ति हम इस त्योहार में देखते हैं। जैनियों के अनुसार उनके अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर जी ने इसी दिन मोक्षश्री प्राप्त की थी। आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द का भी देहावसान इसी दिन हुआ था। यह त्यौहार चाहे किसी कारण मनाया जाय, किन्तु है बड़े महत्त्व का। ऋतु के सम्वन्ध में यह शरद् ऋतु का प्रधान त्यौहार है। इस दिन दीपावलियों के प्रकाश से अमावस्या की अँधेरी रात्रि भी आलोकमयी वन जाती है, इस कारण यह त्यौहार दीपावली [दीप + अवली] के नाम से प्रख्यात है।

दीपावली किस प्रकार मनाई जाती है

दीपावली के कुछ दिन पहले लोग अपने घरों की सफ़ाई करते हैं, उन्हें लीप-पोत कर साफ सुथरा कर देते हैं। इसके वाद मकानों और दुकानों को झाड़, फानूस और चित्रादि से सजाते हैं। दीवाली का उत्सव पाँच दिन रहता है। दो दिन पहले 'धन तेरस' का उत्सव मनाया जाता है। इस दिन वरतन वेचने वाले दुकानदार, मिठाई वनाने वाले हलवाई और मिट्टी के खिलौने वेचने वाले कुम्हार अपनी-अपनी वस्तुओं को वाज़ारों में वड़ी सुन्दरता-पूर्वक सजाकर रखते हैं। इस दिन किसी वरतन का खरीदना शुभ समझा जाता है, इस कारण सैकड़ों मनुष्य वाज़ारों में बरतन, खिलौने और मिठाई खरीदते हुए दिखाई देते हैं। धनतेरस की रात्रि को बहुत से स्थानों में खजाने की पूजा हुआ करती है।

दूसरे दिन 'नरक चौदस' या छोटी दीवाली मनाई जाती है। श्रीकृष्ण जी द्वारा नरकासुर के वध के कारण यह दिवस 'नरक चतुर्दशी' के नाम से प्रख्यात हुआ। अपने-अपने घरों की भीतरी तथा वाहरी गंदगी को दूर कर देना एक प्रकार से 'नरकासुर' का ही वध है। इसी दिन विष्णु भगवान ने नृसिंहावतार धारण कर

अपने भक्त प्रह्लाद की रक्षा की थी और संसार को एक बड़े राक्षस [हिरण्यकशिपु] के त्रास से बचाया था।

तीसरे दिन अमावस्या होती है। यह दीपावली महोत्सव का प्रधान दिवस है। रात्रि के समय लक्ष्मी-पूजा के पश्चात् लोग अपने घरों को दीप-मालिकाओं द्वारा सुसज्जित करते हैं। शहरों की ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ प्रकाश से जगमगा उठती हैं। अमावस्या की घोर अन्धकारमयी निशा भी पूर्णिमा की छटा धारण कर लेती है। प्रेम और सहयोग-पूर्ण उद्योग अँधेरे में भी प्रकाश कर देता है। इस अवसर पर लोग अपने सम्बन्धियों तथा इष्ट मित्रों को अपने घर पर आमन्त्रित कर उनके साथ आमोद-प्रमोद करते हैं। बहुत से लोग अपने बन्धु-बान्धवों के घर पर ही मिठाई और पकवान भेज देते हैं। बच्चों को तसवीरें और खिलौने उपहार स्वरूप दिए जाते हैं। अभ्यागतों को भी उत्तम-उत्तम भोजन तथा खील-बतासे बाँटे जाते हैं। कहीं-कहीं गीतवाद्य की भी व्यवस्था रहती है। इस प्रकार सारी रात नहीं तो आधी रात तक तो खूब ही चहल-पहल रहती है। बहुत से लोग रात्रि के जागरण को एक धार्मिक कार्य समझते हैं और किसी कार्य में लगे रह कर रात्रि बिता देने तथा भाग्य-परीक्षा के लिए जुए में भी प्रवृत्त हो जाते हैं। यह निंद्य प्रथा इस उत्सव का कलंक है।

चौथे दिन गोवर्द्धन-पूजा होती है। यह पूजा श्रीकृष्ण जी के गोवर्द्धन धारण करने की स्मृति में की जाती है। स्त्रियाँ गोमय (गोबर) निर्मित गोवर्द्धन की मूर्ति स्थापित करती हैं। उसी के साथ गोबर की गाएँ और गोपाल बनाती हैं। रात्रि को सब लोग उसकी पूजा करते हैं। किसान लोग अपने अपने बैलों को अच्छी तरह नहलाते और उनके शरीर पर मेहंदी, रंग आदि लगाते हैं।

फिर उन्हें पक्वान और बाजरा तथा जौ को गुड़ के साथ मिला कर खिलाते हैं। गोवर्द्धन-पूजा की प्रथा भारतवर्ष में गोधन के महत्त्व की द्योतक है। इसी दिन अन्नकूट भी मनाया जाता है। लोग नाना प्रकार के भोजन बना कर अपने इष्ट देव को समर्पित करते और स्वयं खाते हैं। पाँचवें दिन 'भैया दूज' होती है। इसको यम-द्वितीया भी कहते हैं। इस दिन लोग गंगा-यमुना आदि पवित्र नदियों में स्नान करते हैं। बहनें अपने भाइयों को बड़े प्रेम से भोजन करा कर उनका तिलक करती हैं।

बंगाल में इस दिन काली-पूजा मनाई जाती है और इससे अगली पूर्णिमा को लक्ष्मी-पूजा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी 'सत्य-हरिश्चन्द्र' में लिखा है—'धन तेरस और रात दिवाली, बलि चढ़ाइ कै पूजैं काली।'

इस त्योहार के लाभालाभ

वर्षा ऋतु में मेंह पड़ने के कारण मकान टूट-फूट जाते हैं, अतएव उनकी मरम्मत करानी पड़ती है। दीवाली के त्यौहार के बहाने घरों की मरम्मत हो जाती है और सालभर का कूड़ा-करकट फिंक जाने से घरों में स्वच्छता आ जाती है। इस त्योहार से प्रेम, सौहार्द्र और सहानुभूति का विकास होता है। मनोमालिन्य दूरकर लोग प्रेम से आपस में मिलते हैं। यह मनोरंजन का अच्छा साधन है। इससे जातीय भावों की भी वृद्धि होती है और लोग वर्ष भर का अपना हिसाब किताब भी ठीक कर लेते हैं।

दीपावली के पवित्र अवसर पर कुछ लोग जुआ खेलना आवश्यक समझते हैं और उस दिन की हार-जीत को साल भर की हार जीत मानते हैं। इसका कभी-कभी बुरा परिणाम देखने में आता है। कितने ही तो अपनी गाढ़े पसीने की कमाई को घंटों में लुटा-

कर राजा से रंक बन जाते हैं। कहीं-कहीं मारपीट तक की नौबत आ जाती है और अनेकों को जेल के कठोर कष्ट भी सहने पड़ते हैं। इस सम्बन्ध में विशेष सुधार की आवश्यकता है।

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी

जन्माष्टमी वर्षा ऋतु के त्योहारों में प्रधान है। श्रीकृष्ण भगवान के जन्म की तिथि भाद्रपद कृष्णा अष्टमी को यह उत्सव भारतवर्ष के प्राय: सभी प्रान्तों में बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। पाँच हज़ार वर्ष पहले की बात है कि मथुरा में यदुवंशी राजा उग्रसेन राज्य करता था। उसके कंस नाम का लड़का था। वह बड़ा अत्यचारी था। अपने पिता को राजसिंहासन से उतार कर स्वयं राजा बन बैठा था। सारी प्रजा उससे दुखी थी।

उन्हीं दिनों मथुरा के पास गोकुल के एक घोष परिवार में शूरसेन नाम के एक यादव रहते थे। उनके पुत्र वसुदेव का कंस के चाचा देवक की कन्या देवकी के साथ विवाह हुआ। विवाहोत्सव समाप्त होने पर जब बरात बिदा हुई और कंस अपनी बहन देवकी को पहुँचाने चला, तो मार्ग में आकाश-वाणी हुई—"अरे मूर्ख कंस! तू जिसे पहुँचाने जा रहा है, उसी का आठवाँ लड़का तेरा नाश करके पृथ्वी का भार हलका करेगा।" कंस इस आकाशवाणी से शंकित हो गया और इस के फलीभूत होने से बचने के लिए उसने वसुदेव और देवकी को कैद में डाल दिया और निश्चय कर लिया कि देवकी की जो भी सन्तान होगी वह मार डाली जायगी। उसी निश्चयानुसार कंस ने वसुदेव के ६ बच्चों को पैदा होते ही मार डाला। सातवाँ पुत्र बलराम हुआ, जिसे

वसुदेव की दूसरी स्त्री रोहिणी के यहाँ पहुँचा दिया गया । अब बारी थी आठवीं सन्तान की । जब से आकाशवाणी हुई थी तभी से कंस की प्रजा अपने रक्षा करने वाले की प्रतीक्षा बड़ी उत्सुकता से कर रही थी । जिस रात को देवकी के सन्तान होने वाली थी उस दिन मथुरा तथा गोकुल के सब निवासियों ने व्रत आदि रक्खे और भगवान् से उस सन्तान की रक्षा के लिए प्रार्थना की। आधी रात के समय आठवीं सन्तान का जन्म हुआ और वसुदेव ने उस भयंकर रात्रि में ही नवजात शिशु को अपने मित्र नन्द के घर पहुँचा दिया और बालक के स्थान पर एक कन्या रख दी। कंस ने अपने नियमानुसार उस कन्या की हत्या कर डाली । परन्तु वसुदेव की आठवीं सन्तान तो बच हो चुकी थी । यही आठवीं सन्तान कृष्ण नाम से विख्यात हुई, जिसने कंस के अत्याचारों का बदला लेकर प्रजा को सुखी बनाया । भारतवासी कई सदियों से अब तक कृष्णजन्मोत्सव मनाते चले आ रहे हैं, और इसी दिन को कृष्ण-जन्माष्टमी कहा जाता है ।

कृष्ण-जन्माष्टमी प्राय: सभी जगह एक ही ढंग से मनाई जाती है। कृष्णमन्दिरों में १५ दिन पूर्व ही से कृष्ण की झाँकियाँ होती हैं। गीता की कथा कही जाती है और भगवान कृष्ण के आदर्श जीवन की चर्चा होती है । इसके अतिरिक्त अष्टमी के दिन व्रत रक्खा जाता है। प्राय: सभी घरों में उस दिन कृष्ण-मूर्ति स्थापित की जाती है। संध्या समय से कृष्ण की उस स्थापित मूर्ति की आराधना होती है और ठीक आधी रात के समय व्रत तोड़ा जाता है। आधी रात तक सब लोग जागते और हरिकीर्तन में संलग्न रहते हैं।

भगवान कृष्ण का जीवन हमारे लिए आदर्श है । उनका चरित्र जितना ही लोकरंजनकारी था उतना ही लोकोपकारी भी था ।

बाल्यकाल से मृत्यु-पर्यन्त उनका जीवन परोपकार-साधन में बीता। उन्होंने अत्याचारी राजाओं का संहार कर भारतवर्ष में शान्ति स्थापित की। दुखियों का दुख मिटाना ही उनके जीवन का चरम लक्ष्य था। उन्होंने कंस को मारा किन्तु उससे स्वयं कुछ लाभ नहीं उठाया। वे सेवा और सौम्यभाव की मूर्ति थे। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उन्होंने लोगों के चरण धोने का कार्य अपने जिम्मे लिया, मित्र सुदामा से निरभिमान भाव से मिले और उसको अपना सा ही वैभववान् बना दिया। अर्जुन के सारथी बनकर उसका रथ हाँका। सारथी होकर ही उन्होंने गीता के उपदेश से रणक्षेत्र में अर्जुन को बिना फल की इच्छा किये कर्तव्य-पालन का महत्त्व बतलाया और उसका मोह दूर किया।

जन्माष्टमी मनाने का तभी कुछ फल हो सकता है जब हम भगवान कृष्ण की परोपकार-भावना को अपने हृदय में स्थान दें और गीता के उपदेशों के अनुसार चलें। जन्माष्टमी इसीलिए वर्ष प्रति वर्ष मनाई जाती है कि भगवान के पुण्य चरित्र का हम पर सुप्रभाव पड़े। यदि हम इस अवसर से लाभ नहीं उठाते तो सारी धूमधाम करना वृथा है।

यदि इस प्रकार के उत्सवों में थोड़ा सा सुधार कर दिया जाय, तो निश्चय ही उत्सव का उद्देश्य पूर्ण हो सकता है। स्थान-स्थान पर कथाओं का प्रबन्ध हो, कृष्ण-चरित्र का प्रचार किया जाय और बिजली की रोशनी आदि फिजूलखर्चियों तथा व्यर्थ के आडंबरों को कम किया जाय तो कृष्ण-जन्माष्टमी का उत्सव प्रभावोत्पादक हो सकता है।

हिन्दू-तीर्थ

तीर्थ पवित्र स्थानों को कहते हैं। हिन्दू धर्म का उदय भारतवर्ष में ही हुआ है, इस कारण हिन्दुओं के तीर्थ तीर्थों का महत्त्व हिन्दुस्तान में ही हैं, उससे बाहर नहीं हैं । ये तीर्थ ऐसे ही स्थानों पर हैं जो प्राकृतिक शोभा तथा अवतारों और ऋषि मुनियों के निवास एवं गंगा जमुना आदि पवित्र नदियों की स्थिति के कारण कुछ महत्त्व रखते हैं।

ये तीर्थ धार्मिक महत्त्व के अतिरिक्त जातीय महत्त्व भी रखते हैं। प्राचीन काल में जब रेल, मोटर आदि का इतना प्रचार न था और आना जाना आजकल का सा सुलभ न था तब लोग इन्हीं तीर्थों के कारण देश के एक छोर से दूसरे छोर तक जाते थे। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लोग एक दूसरे के संपर्क में आते थे, जिससे किन्हीं अंशों में उनका प्रान्तीय भाव मिट जाता था। जो लोग भारतवर्ष को एक देश नहीं मानते, उन्हें हमारे तीर्थों में देश की एकता का प्रमाण मिल सकता है। भाषा और वेश की भिन्नता होते हुए भी लोग इन तीर्थों में एक ही भाव से प्रेरित हो कर जाते हैं। हिन्दुओं के धर्म तीर्थों में एक प्रकार से भारतवर्ष की चौहद्दी बँधी हुई है और उनके दर्शन कर लेने से पूरे देश की यात्रा हो जाती है। इन्हीं तीर्थों के बहाने मनुष्य उत्तराखंड में बदरीनाथ और केदारनाथ के दर्शन कर पहाड़ी प्रदेशों की रमणीय प्राकृतिक शोभा का आनन्द अनुभव कर लेता है और उसे हिमालय का अर्थ (हिम = बर्फ + आलय = स्थान) पूरी तौर से पता लग जाता है । रामेश्वरम्

में वह श्रीरामचंद्रजी द्वारा स्थापित शिवमूर्ति के तथा कन्या कुमारी में कुमारी पार्वती जी की प्रतिमा के दर्शन कर दक्षिण देश का परिचय प्राप्त कर लेता है। पूर्व में जगन्नाथ पुरी जाकर बंगाल और उड़ीसा की सैर हो जाती है और द्वारिकापुरी में जाकर यात्री पश्चिमी छोर को देख लेता है। अवन्तिका में मध्यभारत का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

हिन्दू धर्म में जो सात पुरी मानी गई हैं उनके नाम हैं:—

प्रधान तीर्थों का वर्णन

मथुरा, माया (हरद्वार), काशी, काञ्ची, अवन्तिका, अयोध्या और द्वारिका। ये सभी स्थान बहुत प्राचीन हैं। इनका उल्लेख धर्म-ग्रन्थों के अतिरिक्त साहित्य-ग्रन्थों में भी है। महाकवि कालिदास ने मेघदूत में अवन्तिका और महाकाल का सुन्दर वर्णन किया है। मथुरा को कृष्ण ने अपनी लीला से पवित्र किया था। यह मधु राक्षस की बसाई हुई कही जाती है। मथुरा शहर ही पवित्र नहीं माना जाता वरन् उसके आसपास के वृन्दावन, गोकुल, नन्दगाँव, बरसाना आदि ग्राम भी धार्मिक महत्त्व रखते हैं। इन सब ग्रामों का श्रीकृष्ण जी की लीलाओं से सम्बन्ध है। मायापुरी में ही हरद्वार सम्मिलित था। यहीं से हर (महादेव) के स्थान कैलाश की पहाड़ी यात्रा प्रारंभ होती है, इसलिए इसे हरद्वार कहते हैं। यहीं पर गंगाजी के पवित्र दर्शन प्राप्त होते हैं। यहाँ से थोड़ी दूर चल कर ही पहाड़ी दृश्यों की छटा दिखाई देने लगती है।

काशी शिवपुरी मानी जाती है। कहा जाता है कि यह शिव जी के त्रिशूल पर बसी हुई है। प्रलय काल में भी इसका नाश नहीं होता और जो लोग यहाँ शरीर त्यागते हैं वे शिवलोक को प्राप्त होते हैं। विश्वनाथ जी काशी के प्रधान देवता हैं, इसी कारण यह

विश्वनाथपुरी भी कहलाती है। काशी सदा से विद्या का केन्द्र रही है। उसको भारतवर्ष की ज्ञान-संबंधिनी राजधानी कहना अनुपयुक्त न होगा। बुद्धदेव ने भी अपने धर्म का प्रचार काशी से ही किया था। सारनाथ के भग्न-स्थान उसकी प्राचीनता का परिचय देते हैं। यहाँ पर एक नया बौद्ध-विहार भी बन गया है। हिन्दू विश्वविद्यालय भी यहीं है। ज्ञान का केन्द्र होने के कारण इस पुरी का नाम काशी (प्रकाश देने वाली) सार्थक हो रहा है। वरणा और असी के बीच में होने के कारण काशी को वाराणसी भी कहते हैं।

काञ्ची दक्षिण देश का तीर्थ है। उसके दो भाग हैं शिव-काञ्ची और विष्णु-काञ्ची। वे दोनों ही संप्रदायों के लिए पवित्र हैं।

अवन्तिका—यह उज्जयिनी (उज्जैन) नगरी बड़ी प्राचीन और पवित्र है। वीर विक्रमादित्य यहीं के राजा थे। यहाँ महाकाल का मन्दिर है। जिस प्रकार आजकल ज्योतिषी ग्रीनविच (Greenwich) को प्रधानता देते हैं उसी प्रकार प्राचीन काल के ज्योतिषीगण अवन्तिका को मुख्यता देते थे। यहाँ पर सिप्रा नदी बहती है।

अयोध्या नगरी—यह श्री रामचन्द्र जी की जन्म-भूमि होने के कारण रामोपासकों के लिए बड़े महत्त्व का स्थान है।

द्वारिका—यह कृष्ण जी के मथुरा के पश्चात् के चरित्र से सम्बन्ध रखती है। कृष्ण भगवान इस नगर में अपने पूर्ण ऐश्वर्य के साथ दिखाई पड़ते हैं। वृन्दावन-लीला में श्रीकृष्ण का माधुर्य प्रकट होता है और द्वारिका-लीला में उनके ऐश्वर्य और वैभव की झाँकी मिलती है।

इन पुरियों के अतिरिक्त और भी कई स्थान महत्त्व के हैं जिनमें चित्रकूट, गया और प्रयाग प्रधान हैं। श्री रामचन्द्र जी ने अपने वनवास का जीवन चित्रकूट से ही आरम्भ किया था। वहीं

पर भरत उनसे मिलने आये थे। उस स्थान की प्राकृतिक शोभा बड़ी मनोरम है। इस विचित्रता के कारण ही उस स्थान का नाम चित्रकूट पड़ा। गोस्वामी तुलसीदास जी ने चित्रकूट का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

अब चित चेत चित्रकूटहिं चलु।
भूमि बिलोक रामपद-अंकित बन बिलोकु रघुबर-बिहार-थलु॥

गया बिहार में है। वह बौद्धों का तीर्थ है। गया का तीर्थ पितृगण से सम्बन्ध रखता है। ऐसा माना जाता है कि गया तीर्थ की यात्रा करके पुत्र अपने पितरों को सद्गति देता है। गया के पवित्र स्थान पहाड़ियों पर हैं, उनमें प्रेतशिला, मोक्षशिला आदि अधिक प्रसिद्ध हैं।

प्रयाग तीर्थराज माना जाता है। यह जगह विशेष रूप से यज्ञों की थी। इसी से इसका नाम प्रयाग (प्र = प्रकर्षेण, याग = यज्ञ) पड़ा। यहाँ पर गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम है। संगम में स्नान का बड़ा महत्त्व है और संगम की प्राकृतिक शोभा भी दर्शनीय है। तट पर पंडों के झंडे तथा तख्त और जल में नावों का दृश्य बड़ा सुन्दर प्रतीत होता है। कुंभ के समय यहाँ लाखों आदमियों की भीड़ एकत्र होती है। भरद्वाज मुनि का आश्रम, अक्षयवट आदि स्थान यहाँ बहुत पवित्र माने जाते हैं।

तीर्थों की दुर्दशा और सुधार की आवश्यकता

तीर्थों का राजनीतिक और सामाजिक महत्त्व होते हुए भी वे आजकल धार्मिक अत्याचार, पाखंड, व्यभिचार और गंदगी के केन्द्र बने हुए हैं। पंडे लोग वैसे सब कुछ आराम देते हैं, पथप्रदर्शक का भी काम करते हैं, किन्तु सुफल बुलवाते समय वे डाकुओं की वृत्ति धारण कर लेते हैं। अतएव तीर्थों का

महत्त्व स्वीकार करते हुए भी यह कहना पड़ता है कि उनमें सुधार की आवश्यकता है, जिससे कि वे वास्तव में तीर्थ कहलाए जाने योग्य बन सकें। कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने तीर्थों की वर्तमान दशा के सम्बन्ध में क्या ही अच्छा कहा है—

आरम्भ से ही जो हमारे मुख्य धर्म-क्षेत्र हैं।
अब देखकर उनकी दशा, आँसू बहाते नेत्र हैं।
हा! गूढ़ तत्वों का पता ऋषि मुनि लगाते थे जहाँ,
सबसे अधिक अविचार का विस्तार है संप्रति वहाँ।
वे तीर्थ जो प्रभु की प्रभा में पूर्ण हो पूजित हुए,
राजर्षि-युत ब्रह्मर्षियों के कण्ठ से पूजित हुए।
अब तीर्थ-गुरु ही हैं अधिक उनको कलंकित कर रहे।

तुलसी का पौधा

भारतवर्ष में अनेक प्रकार के वृक्ष और वनस्पतियाँ पाई जाती हैं। उनके अनेक उपयोग हैं। कोई अपनी शीतल छाया से थके हुए पथिकों को विश्राम देते हैं, कोई शुष्क हो जाने पर विशाल भवनों के निर्माण में काम आते हैं, कोई अपने सुगंधित फूलों से वनस्थली की शोभा बढ़ाते हैं, किन्तु तुलसी के छोटे से पौधे में जो गुण और उपयोगिता है, वह बहुतों में नहीं है।

वर्णन

तुलसी का पौधा गर्म देशों में पैदा होता है। भारतवर्ष में यह प्रायः सब जगह पाया जाता है। वह दो फीट से लगाकर पाँच फीट तक होता है और एक झाड़ी के सदृश दिखलाई देता है। तुलसी दो प्रकार की होती है—काली और सफेद। श्याम तुलसी को वन तुलसी भी

कहते हैं। इसके पत्ते कुछ गोल, कुछ लंबे और कोमल होते हैं। इनमें एक विशेष प्रकार की सुगंध रहती है। इसके फल, फूल, पत्ते, जड़ और छाल—पाँच भाग होते हैं, जो इसके पंचांग कहलाते हैं। फूलों को तुलसी की मंजरी के नाम से भी पुकारते हैं। इसके पत्ते खाने में कुछ तीक्ष्ण होते हैं। तुलसी प्रायः वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में उपज आती है; शरद ऋतु से पहले इसमें मंजरियों का लगना आरंभ होता है फिर गर्मी की मौसम में पतझड़ हो जाने के कारण इसका पौधा ठूँठ सा दिखलाई देने लगता है। वर्षाऋतु के साथ-साथ तुलसी में फिर जीवन आ जाता है और नवीन पत्ते निकलने लगते हैं।

उपयोगिता

तुलसी में अनेक गुण हैं। यह वायु को सुगंधित और शुद्ध करने की प्रबल शक्ति रखती है। इसका प्रतिदिन सेवन करने से बहुत रोग दूर हो जाते हैं। इस में छूतवाले रोगों के कीटाणुओं के नष्ट करने की प्रबल शक्ति है। शहरों से दूर छोटे-छोटे निर्धन गाँवों में जहाँ हकीमों और डक्टरों का अभाव होता है, तुलसी के थोड़े-से पत्ते ही उन ग्राम-वासियों के जीवन के सहायक होते हैं। तुलसी प्रायः समस्त बीमारियों में प्रयुक्त की जाती है। मलेरिया में तो यह रामबाण के सदृश होती है; डाँसों और मच्छरों के लिए यमराज के समान है; खाँसी, हैजा, सन्निपात, प्लेग, तपेदिक आदि रोगों में भी यह अपने दैवी गुणों का परिचय देती है। साधारणतया इसका सेवन बलकारक है। इसके व्यवहार से पाचन-शक्ति तीव्र होती है, हृदय की दुर्बलता नष्ट होती है और मनुष्यों में एक अपूर्व स्फूर्ति आ जाती है। चर्म रोगों में इसके पंचांग को घोट कर लगाने से लाभ होता है। कान का दर्द इसके अर्क की एक बूँद डालते ही दूर हो

जाता है । प्रायः विषों पर भी तुलसी का प्रयोग किया जाता है । कुछ लोगों का कथन है कि इसकी जड़ बीछू और सर्प के काटे में भी काम आती है । आजकल तुलसी के पत्तों से बड़ी बढ़िया चाय तैयार की जाती है । अगणित लाभ होने के साथ-साथ यह ज़रा भी हानिकारक नहीं होती और अल्प व्यय में तैयार की जा सकती है ।

साधारणतः सभी हिन्दू गृहस्थ विशेषतः वैष्णव इसे बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं और इसे अपने देवालयों में लगाते हैं । इसे वे केवल उपयोगिता की ही दृष्टि से नहीं देखते वरन् इसकी पूजा भी करते हैं, अपने देवताओं पर इसे अर्घ के साथ चढ़ाते हैं और इसके पत्तों को प्रसाद मानकर खाते हैं । शालिग्राम ठाकुर की पूजा बिना तुलसी-दल के नहीं होती, चरणामृत आदि में भी तुलसी-दल डाला जाता है । वास्तव में तुलसी ऐसी ही पूजा के योग्य है ।

क्रिकेट

खेल का इतिहास और उसका प्रचार

क्रिकेट अंगरेज़ों का अत्यन्त प्राचीन जातीय खेल है । प्रारंभ में तो यह केवल सामाजिक मन-बहलाव का साधन मात्र था, किन्तु विक्टोरिया के समय में डाक्टर ग्रेस ने इसे कला की कोटि तक पहुँचा दिया । परिणाम-स्वरूप आज क्रिकेट संसार का सर्वोत्कृष्ट खेल माना जाता है । भारतवर्ष में इसके प्रचार का श्रेय बंबई के भूत-पूर्व गवर्नर स्वर्गीय लार्ड हैरिस को है । इन्हीं महाशय का बोया हुआ बीज आज बृहद् वृत्त के रूप में दिखलाई देता है । आजकल कलकत्ता, लाहौर, बंबई आदि बड़े नगरों में प्रतिवर्ष क्रिकेट के मैच होते हैं और उनमें सैकड़ों खिलाड़ी सम्मि-

लित होते हैं और सहस्रों क्रीड़ा-प्रेमी इनके समाचार जानने को उत्सुक रहते हैं। ब्रिटिश साम्राज्य में ऐसा कोई उपनिवेश नहीं है, जहाँ यह खेल न खेला जाता हो।

अन्तर्जातीय प्रतियोगिता सर्वप्रथम विलायत और आस्ट्रेलिया के बीच प्रारंभ हुई और आज भी यह संसार की सर्वप्रमुख प्रतियोगिता है। इसमें ग्रेस, हॉब्स, ब्रैडमैन आदि प्रसिद्ध और अपने अपने समय के अद्वितीय खिलाड़ी भाग ले चुके हैं। धीरे-धीरे दक्षिण अफ्रीका, न्यूज़ीलैंड, वेस्ट इन्डीज़ आदि उपनिवेश भी इस प्रतियोगिता में सम्मिलित होते गए। पहले भारतवर्ष इसमें नहीं आया था, इसीलिए अनुपम कौशल-संपन्न कलाकार स्वर्गीय महाराजा जाम साहब रणजीतसिंहजी, उनके भतीजे कुमार श्री दलीपसिंहजी और नवाब पटौदी जैसे निपुण भारतीय खिलाड़ी इस प्रतियोगिता में विलायत की ओर से खेले। अब प्रतिवर्ष भारतवर्ष भी विलायत से मैच खेलने लगा है। यहाँ के मेजर नायडू, अमरसिंह, अमरनाथ, वज़ीरअली आदि की कीर्ति क्रिकेट-संसार के कोने-कोने में फैल गई है।

खेल किस प्रकार खेला जाता है

क्रिकेट के लिए नियत विस्तार का सर्वथा समतल आयताकार क्षेत्र चाहिये। बीच में बाईस गज़ के अन्तर से आमने-सामने सत्ताईस-अट्ठाईस इंच ऊँचे तीन तीन डंडे गाड़कर दो 'विकेट' बनाए जाते हैं। विकटों से समानान्तर और चार फीट की दूरी पर दो रेखाएँ खींची जाती हैं जो बल्ले वाले खिलाड़ी (बैट्समैन) की सीमाएँ हैं। यहीं खड़ा होकर खिलाड़ी खेलता है। जब एक ओर का खिलाड़ी दौड़कर दूसरी ओर पहुँच जाता है और उधर का खिलाड़ी इधर आ जाता है, तो एक 'रन' होता है।

सुविधा के लिए सीमा निश्चित कर दी जाती है जिसके पार गेंद के लुढ़क कर या ऊपर ही ऊपर जाने से खेलने वालों को विना दौड़े ही चार या छः रन मिल जाते हैं। प्रत्येक खिलाड़ी के रन जोड़कर जिस दल के रन अधिक हुए हों वही विजयी होता है।

जिस दल की खेलने की बारी होती है, उसके दो खिलाड़ी टाँगों और हाथों की रक्षा के लिए 'पैड' और विशेष प्रकार के दस्तानों से सजकर बल्ले लेकर मैदान में आते हैं। खिलाने वालों में से एक खिलाड़ी एक विकेट से कतिपय नियमों के अनुकूल दूसरे विकेट की ओर गेंद फेंकता है, जिसे बॉल देना कहते हैं। एक दूसरा शरीर-रक्षा के अनेक साधन धारण करके गेंद रोकने के लिए दूसरी ओर विकेट के पीछे खड़ा होता है। दल-नायक शेष खिलाड़ियों को बॉल देने वाले के कौशल और खेलने वाले की योग्यता का विचार कर उचित स्थानों पर खड़ा करता है। खेलने वालों का उद्देश्य अधिक से अधिक रन बनाने का होता है और खिलाने वालों का ध्येय यह रहता है कि यथा संभव कम रन बनें। बॉल देने वाले की कारीगरी इस बात में है कि या तो गेंद (बॉल) विकेट में लगे, या खेलने वाले के बल्ले में लगकर उछल जाय ताकि उसके दूसरे साथियों में से कोई उसे लीक (कैच कर) ले, अथवा गेंद मारने में खेलने वाला अपनी सीमा का अतिक्रमण करे और चूक जाय। इसलिए वह खेलने वाले का ख्याल करके कौशल पूर्वक गेंद के वेग, 'पिच' एवं दिशा आदि में परिवर्तन करता रहता है, जिससे खेलने वाला भ्रम में पड़ जाय।

दूसरी ओर खेलने वाला इस कौशल-प्रतिस्पर्धा में विकेट की रक्षा के लिए बल्ले को सीधा करके इस तरह हिट लगाता है कि यथासंभव गेंद विना ऊपर उठे ही रोकने वालों के बीच से निकल

जाय। 'स्ट्रोक' (गेंद पर आघात करने) के अनेक प्रकार होते हैं और अँगरेज़ी में उनके पृथक्-पृथक् नाम हैं, जैसे ड्राइव, कट, ग्लान्स इत्यादि। अवसर के अनुसार प्रत्येक स्ट्रोक काम में लाया जाता है। ग्यारह विपक्षियों से घिरा हुआ और यह जानता हुआ कि थोड़ी भी गलती हुई और दाँव का अंत हुआ, बंदूक से निकली हुई गोली के समान आती हुई गेंद से खिलाड़ी अपने विकेट की रक्षा करता है और अपने पक्ष के लिए रन बनाता है। शेष खिलाने वाले ध्यान-पूर्वक नियत स्थानों पर गेंद पर दृष्टि जमाए इस ताक में डटे रहते हैं कि खेलने वाला किधर हिट लगाता है। गेंद को पकड़ने, उसकी गति को रोकने तथा कैच करने के लिए वे सदा सतर्क रहते हैं।

क्रिकेट बड़ा खर्चीला खेल तो है ही, साथ ही इसमें नैपुण्य प्राप्त करने के लिए बहुत देर तक निरंतर अभ्यास की आवश्यकता है। स्वर्गीय जाम साहब में ईश्वर-प्रदत्त सर्वतोमुखी प्रतिभा थी, साथ ही उन्होंने अनवरत परिश्रम से इस खेल में अनुपम दक्षता प्राप्त की थी। ब्रिटिश जनता उन्हें सस्नेह 'रंजी' नाम से पुकारती थी और उनके हस्तलाघव का उदाहरण, 'रंजी का ग्लान्स' नामक सुन्दर स्ट्रोक आज भी क्रिकेट प्रेमियों का प्यारा स्ट्रोक है। यही नहीं, आज भी संसार के सर्वश्रेष्ठ क्रिकेट खिलाड़ियों में उनकी गणना की जाती है।

खेल के लाभ

खेल हमारे शरीर की मांस-पेशियों को पुष्ट करते हैं और हम में साहस एवं सहनशीलता का संचार करते हैं। खेलों से हम में जीवन के आनन्द की वह अनुभूति, वह ज़िन्दादिली आती है जो मरते दम तक हार मानने का नाम तक नहीं जानती। खेल खिलाड़ी के चरित्र को

सुन्दर, परिपक्व तथा सुदृढ़ करके उसे शांति-पूर्ण व्यवसाय के योग्य ही नहीं बनाते बल्कि इस योग्य भी बनाते हैं कि अवसर पड़ने पर वह देश के लिए शस्त्र ग्रहण कर सके। यही आशय ड्यूक वेलिंग्टन की प्रसिद्ध उक्ति "वाटरलू का युद्ध ईटन के खेल के मैदान पर जीता गया" में छिपा है। क्रिकेट सर्वोत्कृष्ट खेल है, इसके खेलने से उपर्युक्त गुण पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं। खिलाड़ियों के अतिरिक्त सर्वसाधारण के मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत करने के साथ-साथ यह हमारी शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक शक्तियों तथा वृत्तियों को विकसित करता है और जीवन-संग्राम में सफल योद्धा बनाने में विशेष रूप से हमारा सहायक होता है।

हॉकी

हॉकी का खेल पहले-पहल कहाँ प्रारंभ हुआ यह निश्चय रूप से नहीं बताया जा सकता। नाम से तो यह पाश्चात्य खेल प्रतीत होता है, पर इस प्रकार का खेल प्राचीन भारत में खेला जाता था इसके भी प्रमाण मिलते हैं। कुछ भी हो यह निर्विवाद है कि अनेक रूपान्तरों के पश्चात् इधर तीस-चालीस वर्षों में इसकी लोक-प्रियता अत्यधिक बढ़ गई है। यह खेल क्रिकेट-जैसे खेलों की अपेक्षा सुगम है और साथ ही इसमें थोड़े ही समय की आवश्यकता होती है। भारतवर्ष में सड़कों पर चीथड़े की गेंद और टेढ़े-मेढ़े डंडों से मनोरंजन करनेवाले दीन बालकों से लेकर खूब रुपया खर्च कर बनाये गये हरे-भरे मैदान पर बहुमूल्य साधनों से क्रीड़ा करने वाले अमीरों तक सभी इसके प्रेमी हैं।

यह खेल लगभग सौ गज़ लंबे और पचपन से लेकर साठ

गज़ तक चौड़े समतल मैदान में खेला जाता है। मैदान के चारों ओर खड़िया या चूने से हद बाँध दी जाती है और चौड़ाई की रेखाओं के बीच में चार गज़ के अन्तर पर सात फ़ीट ऊँचे दो खंभे गड़े रहते हैं जो ऊपर एक आड़ी लकड़ी से जुड़े होते हैं। इस खड़े चतुर्भुज को गोल कहते हैं।

अन्य सामूहिक खेलों के समान इसमें भी ग्यारह-ग्यारह खिलाड़ियों के दो दल होते हैं, जो एक-रूपता एवं दर्शक तथा निरीक्षक की सुविधा के विचार से भिन्न-भिन्न रंग के वस्त्र धारण करते हैं। प्रत्येक खिलाड़ी के पास नीचे से मुड़ी हुई एक-एक लकड़ी होती है, जिसे हॉकी-स्टिक कहते हैं। दोनों दल त्रिकोण-व्यूह-बद्ध हो आमने-सामने खड़े होते हैं। खेल प्रारंभ करने के लिए मैदान के बीचों-बीच गेंद रखी जाती है, फिर दोनों ओर से एक-एक खिलाड़ी आमने-सामने खड़े होकर तीन बार भूमि पर और विपक्षी की स्टिक पर स्टिक ठोकते हैं, तदुपरान्त इनमें से एक जब गेंद को स्टिक से छू लेता है तभी शेष खिलाड़ी भाग ले सकते हैं।

प्रत्येक दल का ध्येय कुछ नियमों का पालन करते हुए स्टिक से मारकर गेंद को विपक्षी के गोल में भेजना होता है। जो दल अधिक गोल करता है वही जीतता है। पाँच खिलाड़ी, जो व्यूह के अग्रभाग में होते हैं, प्रतिपक्षी-व्यूह को भेदकर गोल करने का प्रयत्न करते हैं। शेष जन विरोधियों के संगठित आक्रमणों को रोकने का यत्न करते हैं। गोल-रूपी दुर्ग का अंतिम एवं प्रधान संरक्षक गोल-कीपर कहलाता है, जो शरीर-रक्षा के समुचित साधनों से सुसज्जित रहता है। केवल यही खिलाड़ी गेंद को ठोकर मार सकता है, दूसरों को यह अधिकार प्राप्त नहीं है।

स्टिक के टेढ़े भाग का केवल समपृष्ठ ही काम में लाया जाता है और खेलने में स्टिक का कोई भाग कन्धों से ऊपर नहीं उठाया जा सकता। एक घंटे से लेकर सत्तर मिनट पर्यन्त खेल होता है और बीच में पाँच मिनट का समय विश्राम और गोल-परिवर्तन के निमित्त मिलता है।

निरीक्षण एवं शासन के लिए प्रत्येक क्षेत्रार्ध में एक मध्यस्थ रहता है, जो सीटी बजाकर गोल का होना, तथा नियम-भंग इत्यादि घोषित करता है और अनियमित, अभद्र, एवं असभ्य व्यवहार पर नियमानुसार दंड-विधान करता है।

बाईस दंडधारी हृष्ट-पुष्ट युवकों का एकत्र होकर डंडे लेकर दौड़-धूप करना, आते जाते दर्शक अथवा हाकी से अपरिचित व्यक्ति को अत्यन्त डरावना प्रतीत होता होगा। कुप्रबन्ध तथा दृढ़तापूर्ण शासनाभाव का अनुचित लाभ उठाकर कुछ उच्छृंखल खिलाड़ी इस खेल को दूषित कर देते हैं, इस में सन्देह नहीं, परन्तु यदि नियमानुसार तथा भद्रता एवं मित्रभाव से यह खेल खेला जाय तो ऐसा आनन्ददायक दूसरा खेल कोई नहीं मिलेगा। इसमें पूर्ण स्वास्थ्य, पर्याप्त शारीरिक क्षमता, बिजली के समान तेज़ी, तत्क्षण निर्णय-शक्ति आदि गुण आवश्यक हैं और कौशल तथा सहकारिता के आगे पशुबल की दाल नहीं गलती।

आजकल शायद ही कोई ऐसा कालेज या स्कूल हो जहाँ यह खेल न खेला जाता हो। भिन्न भिन्न देशों के खिलाड़ी दूसरे देशों में भी मैच खेलने जाने लगे हैं। कुछ वर्ष पहले भारतवर्ष की एक टीम भी बाहर मैच खेलने गई थी और सभी देशों को जीत कर लौटी थी।

आँधी

आँधी से बच्चे-बूढ़े सभी परिचित हैं। मेंह की भाँति आँधी भी एक प्राकृतिक घटना है। साधारणतया वायु-मंडल का बोझ १४$\frac{?}{४}$ पाउंड फी वर्ग इंच पड़ता है। हमारे भीतर-बाहर चारों ओर एक-सा दबाव होने के कारण हमको यह बोझ प्रतीत नहीं होता। यह बोझ सब जगह और सब समय एक सा नहीं रहता, कहीं पर यह कम होता है और कहीं पर ज्यादा। पहाड़ों पर यह दबाव कम होता है। अन्य स्थानों में भी कई प्राकृतिक कारणों से यह दबाव घट जाता है। गर्मी का ताप उन कारणों में मुख्य है। जब एक जगह वायु का दबाव कम होजाता है, तब दूसरी जगह की वायु जहाँ दबाव अधिक होता है उस स्थान में दौड़ कर आती है। तेज़ी से दौड़ते समय यह हवा अपने साथ कूड़ा-करकट भी लेती आती है। यही कूड़ा करकट मिली हुई हवा आँधी का रूप धारण कर लेती है।

आँधी प्राय: वर्षा से पूर्व वैशाख ज्येष्ठ में आया करती है। जब आँधी आने को होती है तब आकाश में एक काली दीवार सी बढ़ती हुई दिखाई पड़ती है। थोड़ी ही देर में वह सब स्थान को व्याप्त कर लेती है और हवा बड़ी तीव्रता से चलने लगती है। वृक्षों की डालियाँ और पत्ते खूब जोर से झोंके लेने लगते हैं। वायु का वेग हम को शरीर पर मालूम होने लगता है। कपड़े फटफटाने लगते हैं। सिर पर टोपी या पगड़ी सम्हाले नहीं सम्हलती। आँखों और मुँह में धूल बड़े वेग से जाने लगती है। मकानों के किवाड़

एक दूसरे से टकरा कर तुमुल शब्द करने लगते हैं । खपरैल और टीन की छतें कई बार उड़ जाती हैं। घरों का भी ऐसा ही हाल होता है। यदि कहीं आग जलती हो तो आँधी का वेग उसे चारों ओर व्याप्त करने में देर नहीं लगाता। इसीलिए आँधी आते ही लोग आग बंद करने की आवाज़ लगाते हैं।

कभी-कभी तो आँधी में इतना कूड़ा करकट और मिट्टी होती है कि आँधी के कारण अँधेरा छा जाता है, काले पीले बादल से घिर आते हैं और दिन में रोशनी करने की आवश्यकता पड़ जाती है। सभी चराचर पदार्थ धूल से आच्छादित हो एक अपूर्व रूप धारण कर लेते हैं।

जंगल में तो आँधी और भी अधिक ऊधम मचाती है। बड़े बड़े पेड़ आँधी के वेग से धराशायी हो जाते हैं । आम के दिनों में वृक्षों के नीचे की पृथ्वी आमों से ढकी सी प्रतीत होती है । इसी से 'आँधी के आमों' की कहावत हो गई है। जब कोई चीज़ किसी काल विशेष के लिए मुफ्त में बहुतायत से मिले तब उस के लिए लोग कहने लगते हैं कि भाई आँधी के आम हैं।

आँधी से हानि तो बहुत होती है किन्तु उससे थोड़े लाभ भी होते हैं। इस से गर्मी कम हो जाती है। यदि आँधी के साथ खराब वायु न आई हो तो आँधी द्वारा वायु का सम्मिश्रण होने के कारण वायु शुद्ध हो जाती है। आँधी की वायु पुष्पों के पराग को इधर से उधर ले जा कर पुष्पों को बलवान बनाने में सहायक होती है। प्रकृति की जितनी घटनाएँ हैं वे चाहे देखने में हानिकारक प्रतीत हों किन्तु वे संसार को कुछ न कुछ प्राकृतिक लाभ अवश्य पहुँचाती हैं।

कुछ वर्णनात्मक निबंधों के खाके

विद्यार्थियों की सुविधा के लिए अब कुछ वर्णनात्मक निबंधों के खाके दिये जाते हैं। विद्यार्थियों को इनकी सहायता से इन विषयों पर स्वयं निबंध लिखना चाहिए। इसके बाद इन खाकों की सहायता के बिना भी वे अन्य विषयों पर लिखना सीख सकेंगे।

नारियल

ताड़ और खजूर की जाति का पेड़। पेड़ में डाल नहीं होती। तना प्रायः सीधा और नंगा। खजूर की तरह चोटी पर पत्तों का गुच्छा। पेड़ों के कुंज का सुन्दर दृश्य।

गरम देशों में समुद्र के किनारे उगता है। कलकत्ता, मद्रास, दक्षिण-पश्चिमी समुद्रतट, बंबई, कराची में अधिक।

कच्चे नारियल में ऊपर हरी छाल, नीचे कड़ा छिलका और उसके भीतर पानी। थोड़ा पकने पर हरी छाल रेशों में बदलने लगती है और अंदर का पानी मलाई के रूप में। पूरा पक जाने पर छाल के स्थान पर रेशे और अंदर मलाई के स्थान पर सख्त गिरी।

कच्चे नारियल का पानी बहुत स्वादिष्ट, प्यास बुझाने वाला और पौष्टिक। मलाई और गिरी खाने में स्वादिष्ट। सूखी गिरी खोपा या खोपरा कहाती है। मेवा, हलवा, खीर आदि में उपयोग। तेल निकालना मुख्य उपयोग। रेशे की चटाइयाँ, पायंदाज़, रस्से। पत्ते छत में डाले जाते हैं। कड़े छिलके के हुक्के। पेड़ में छेद करने से एक मीठा रस निकलता है, जिसे ताड़ी कहते हैं। ताड़ी ज्यादा देर रखने से शराब बन जाती है।

कोयल

बहुत मीठा बोलने वाली, कौए जैसे काले रंग की, छोटी सी चिड़िया। सरदी बीतने और वसंत के आते ही उसकी मधुर आवाज़ सुनाई देने लगती है। घने पत्तों में छिपी रहने से दिखाई कम देती है। आवाज़ कभी इस पेड़ पर, कभी उस पेड़ पर। कूहू कूहू से सारा उपवन गूँज जाता है। सरदी पड़ते ही गरम देशों में चली जाती है, आम में बौर लगते ही आ जाती है।

अपने अंडे कौए के घोंसले में रख देती है। कौआ उन्हें अपने अंडे समझकर सेता है।

कौआ और कोयल रंग में एकसे हैं, पर मीठी बोली के कारण कोयल सबको भाती है, कौए को सब दूर भगाते हैं।

पिक भी कारो, काग भी कारो, भेद नाहिं दोनों में कोऊ।
ऋतु-पति के आते आते ही, कागा काक पिका पिक होऊ॥

कौआ कासों लेत है, कोयल काको देत।
तुलसी मीठे वचन से, जग अपनो कर लेत॥

ऐसी अनेक शिक्षा-प्रद अन्योक्तियाँ।

हिमालय

हिम (बर्फ़) आलय (घर)। इसकी चोटियाँ सदा बर्फ़ से ढकी रहती हैं, इसलिए यह नाम। संसार में सब से ऊँचा पर्वत अतएव पर्वतराज। लगभग १६०० मील लंबा और १५० मील चौड़ा। भारत को उत्तर की ओर से घेरे हुए। इसको पार करना कठिन, अतः भारत का पहरेदार। कहीं घने जंगल, कहीं सूखी चट्टानें।

गौरीशंकर, कांचनजंघा और धवलगिरि सबसे ऊँची चोटियाँ। गौरीशंकर २६००२ फीट ऊँची। देशी और विदेशी साहसिकों द्वारा अनेक बार चढ़ने का प्रयत्न, पर सब व्यर्थ।

हिमालय भारत का पड़ोसी। इससे अनेक लाभ। गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र, सिंधु आदि नदियाँ इसी से निकली हैं जिनसे उत्तर भारत का मैदान उपजाऊ। इसकी ऊँची चोटियों से बादलों के टकराने से वर्षा। चीड़, देवदार की लकड़ी तथा जड़ी-बूटियाँ, फल और मेवे।

शिमला, काश्मीर, मसूरी, नैनीताल आदि आकर्षक आरोग्य-वर्धक स्थान, जिनमें अनेक लोग गरमी के दिन बिताते हैं।

बदरीनाथ, केदारनाथ, मानसरोवर, कैलाश आदि अनेक तीर्थ स्थान भी हैं।

गंगा

भारत की सबसे प्रसिद्ध और सबसे अधिक पवित्र मानी जाने वाली नदी। पुराणों के अनुसार उत्पत्ति-कथा—भगीरथ पृथ्वी पर लाये थे, अतएव भागीरथी। पर्वतराज हिमालय से निकल कर पहाड़ों का चक्कर काट कर हरद्वार के आगे मैदान में पहुँचती है। उसके बाद सारे उत्तर भारतीय मैदान को सींचती हुई कलकत्ते के पास समुद्र में मिलती है। बीच में अनेक नदियाँ इसमें मिलती हैं। प्रयाग में यमुना और सरस्वती का इसके साथ संगम, बड़ा पवित्र। इस के किनारे पर हरद्वार, प्रयाग, काशी आदि अनेक तीर्थ। इसमें स्नान करना पवित्र समझा जाता है। गंगा-स्नान का दृश्य। स्नान से स्वर्ग मिलता है, और सब पाप धुल जाते हैं, ऐसी कथा। व्यापार का बड़ा भारी साधन। इसमें दूर तक जहाज चलते हैं। किनारों पर कई प्रसिद्ध व्यापारिक नगर। अनेक नहरें निकाली गई हैं, जिनसे सिंचाई होती है।

समुद्र

पृथ्वी के चारों ओर पानी ही पानी। सारे भूमंडल के चार भागों में से तीन भाग समुद्र। सारा संसार एक ही समुद्र से घिरा हुआ, सुविधा के लिए पाँच बड़े बड़े भाग जो महासागर कहलाते हैं—एटलांकिट महासागर, प्रशान्त महासागर, हिन्द महासागर, उत्तरी ध्रवसागर, दक्षिणी ध्रवसागर। इसके सिवाय अनेक छोटे छोटे समुद्र। उनसे भी छोटे टुकड़े जो स्थल में अंदर की ओर चले गये हैं, खाड़ी कहलाते हैं। समीपवर्त्ती देश या जल की रंगत के अनुसार नाम—अरब सागर, लाल सागर, काला सागर। जल की रंगत मिट्टी की सतह की रंगत से ही बदलती है। गंभीर समुद्र की थाह पाना आसान नहीं, इसके अंदर कितने ही पहाड़।

समुद्र-जल खारा। छोटी नदियाँ भी समुद्र में मिलते ही खारी हो जाती हैं। अनंत जल होने पर भी प्यासे की प्यास बुझाने में असमर्थ। समुद्र मर्यादा नहीं छोड़ता। पर चन्द्रमा के आकर्षण के साथ ज्वार। नमक की उत्पत्ति। वर्षा का कारण।

जहाज पर बैठ कर समुद्र का दृश्य। चारों ओर जल ही जल, पृथ्वी का कोई पता ही नहीं। व्यापारिक और लड़ाकू जहाजों का इसके वक्षस्थल पर भ्रमण। विक्षुब्ध होने पर जहाज जलमग्न। जल के भीतर दौड़ने वाली पनडुब्बी (सबमेरीन)।

समुद्र में अनेक प्रकार की मछली, सीप, शंख तथा मोती और मूँगा आदि बहुमूल्य चीज़ें। अतएव रत्नाकर। अनेक नदियाँ इसमें मिलती हैं अतः सरित्पति। आकाश के समान असीम। समुद्र तट का दृश्य। तट पर अनेक बंदरगाह, इन से व्यापार की उन्नति। आधुनिक जल-सेना पर जातियों का भाग्य निर्भर। जिस देश में जितने अच्छे बंदरगाह, वह उतना उन्नत।

रक्षाबन्धन (राखी)

श्रावण मास की अंतिम तिथि, अतएव श्रावणी भी कहलाती है। हिन्दुओं का बड़ा पवित्र त्योहार है।

प्राचीन काल में ऋषि लोगों का यज्ञ, उससे राजा-महाराजाओं को यज्ञ-रक्षा के लिए वचन-बद्ध करना। वैदिक मंत्रों से यज्ञोपवीत। मध्य काल में बहनें अपने भाइयों को राखी बाँधने लगीं। राखी के तागों का इतना महत्त्व कि राखी-बद्ध भाई राखी भेजने वाली बहन के लिए सर्वस्व समर्पण करने को प्रस्तुत। सगे भाई-बहन से भी राखी द्वारा बने हुए भाई-बहन का संबंध अधिक महत्त्वपूर्ण और स्थिर। अतएव मुसलमानों के शासन-काल में जब कोई बलवान पुरुष किसी असमर्थ अबला पर अत्याचार करने को प्रस्तुत होता तो वह किसी बलवान राजा को राखी भेज देती और उस बहन की रक्षा करना राखी-बद्ध भाई का कर्त्तव्य हो जाता। यह राखी मुसलमानों तक को भेजी जाती थी। स्वर्गीय राणा सांगा की धर्मपत्नी कर्मवती का बहादुरशाह से डर कर अपने पति के शत्रु के पुत्र हुमायूँ को राखी भेजना। हुमायूँ का साम्राज्य की परवाह न कर राखी का ऋण पहले चुकाना।

आजकल बहनें अनेक प्रकार की रंग-बिरंगी राखियाँ लेकर उस दिन भाइयों के घर पहुँचती हैं। राखी बाँध कर और टीका कर रुपये लेती हैं। इस से भाई-बहन का संबंध ताज़ा हो जाता है। यदि अब भी बहनों की इज़्ज़त की रक्षा के लिए भाई मध्यकाल की तरह तैयार हो जायँ तो भारत का कष्ट दूर हो जाय।

ग्रहण

ग्रहण का अर्थ है पकड़ना । सूर्य के आक्रान्त होने पर सूर्य ग्रहण, चंद्र के आक्रान्त होने पर चंद्र-ग्रहण। पौराणिक कथा— विष्णु चालाकी से असुरों को शान्त कर देवताओं को अमृत पिला रहे थे । एक धूर्त्त दानव असलियत को जानकर देवताओं के बीच में आ बैठा । सूर्य चाँद ने विष्णु को सूचना दी । विष्णु ने सुदर्शन चक्र से उसका सिर काट लिया। पर अमृत पी लेने से वह मरा नहीं। उसका सिर केतु और धड़ राहु। ये राहु-केतु क्रमशः सूर्य चाँद के पीछे पड़ गये, और उन्हें ग्रसने लगे। इनसे सूर्य और चाँद की रक्षा के लिए लोग दान-पुण्य करते हैं। चांडाल से छू जाने में नहाना आवश्यक, अतएव गंगा या पास की नदी में स्नान।

असल में सूर्य, चाँद, पृथ्वी सदा घूमते रहते हैं। घूमते-घूमते जब सूर्य और हमारी पृथ्वी के बीच में चाँद आ जाता है जिस में से प्रकाश नहीं निकल सकता तब कुछ देर के लिए चाँद की छाया के कारण हम सूर्य को नहीं देख सकते अतः सूर्य-ग्रहण । ऐसे ही जब सूर्य और चाँद के बीच में हमारी पृथ्वी आ जाती है तो संपूर्ण या अधूरा चाँद कुछ देर के लिए नहीं देख पड़ता उस समय चन्द्र-ग्रहण । यह ग्रहण तभी होता है जब सूर्य, चाँद और पृथ्वी एक पंक्ति में हो । अतएव अमावस्या को सूर्य-ग्रहण और पूर्णिमा को चन्द्र-ग्रहण।

प्रातःकाल

सूर्योदय और प्रकाश के साथ रात्रि और अंधकार का अंत और प्रातःकाल का आना। सूर्य-किरणों का दूत बनकर सारी

सृष्टि में चेतनता भरना। उसके साथ ही बागों में फूलों का खिलना, पक्षियों का अपने घोंसले छोड़ना, नर-नारियों का नींद त्यागना। बागों में सैर करने वालों तथा नदी तट पर स्नानार्थियों की भीड़। प्रात:कालीन मंद-मंद समीर। धीरे धीरे प्रात:कालीन सूर्य की लाली का सारी पूर्व दिशा में छा जाना। मनुष्यों का प्रात:कालीन क्रियाओं में लगना। मंदिर और मस्जिदों में पूजा तथा इबादत। बाज़ारों में चहल पहल। किसानों का हल ले कर खेतों को जाना। मज़दूरों का काम पर लगना। फिर से दुनियाँ का कार्य आरंभ। सूर्य के आकाश में बढ़ने का साथ प्रात:काल का अंत।

दिल्ली

भारत की राजधानी। यमुना के किनारे बसी हुई। बड़ी प्रसिद्ध और प्राचीन नगरी। युधिष्ठिर के समय से अनेक हिंदू राजवंशों और मुसलमानों की राजधानी। आधुनिक दिल्ली के आसपास नगर कई बार उजड़ा और बसा। नाम के बारे में अनेक कहानियाँ—पृथ्वीराज के समय लोहे के कील ढीली रहने से दिल्ली।

राजधानी के अतिरिक्त रेलों का केन्द्र भी। चाँदनी चौक पुरानी दिल्ली में प्रसिद्ध बाज़ार, उसकी शोभा। दिल्ली के और आसपास अनेक दर्शनीय और ऐतिहासिक स्थान—लाल किला, जामा मस्जिद, पांडवों का किला, कुतुबमीनार, अशोक का स्तंभ।

नयी दिल्ली अंगरेज़ों ने बसायी। बहुत साफ़। इसकी शानदार इमारतें—वायसराय का महल, असैंबली का सभा-भवन। गर्मियों में ६ महीने उजाड़।

कुंभ का मेला

एक बड़ा पर्व जो प्रति बारहवें वर्ष होता है। हरद्वार और प्रयाग का अधिक प्रसिद्ध। ६ वर्ष बाद अर्द्ध कुंभी। पिछली बार हरद्वार में था। लाखों आदमी समस्त भारत से वहाँ पहुँचते हैं। झोंपड़ियों और तंबुओं से एक नया शहर ही बन जाता है।

अनेकों गाड़ियाँ, स्पेशल ट्रेनें, मोटरें, लारियाँ सवारियों को भर-भर कर छोड़ती जाती हैं। गाड़ियों में आदमी ठसाठस भरे हुए।

गलियों और बाज़ारों में तिल रखने की जगह नहीं। चीज़ें खूब मँहगी। स्नान के दिन सब से अधिक भीड़, साधुओं के अखाड़ों का जलूस। यात्रियों के नियंत्रण के लिए स्वयं-सेवकों, स्काउटों और पुलिस का प्रबंध। स्नान के समय रोक टोक।

लाखों यात्रियों के एकत्र हो जाने से और लोगों के गंदगी आदि फैलाने से हैज़े का डर। लाखों स्त्रियों का भीड़ में गुम हो जाना, कुचला जाना। बदमाशों का निंद्यकार्य, स्काउटों का अनथक स्तुत्य कार्य।

विवरणात्मक निबन्ध

श्री रामचन्द्र जी

आविर्भाव

त्रेतायुग में महाराज दशरथ एक अत्यन्त प्रतापी राजा थे। उनकी राजधानी अयोध्या थी। आज तो अयोध्या बहुत ही मामूली सा शहर है, पर उस समय वह अत्यन्त समृद्धिशाली महान नगर था। महाराजा दशरथ के चार पुत्र थे। रामचन्द्र, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न। इन चारों में रामचन्द्र जी बड़े थे। चारों भाइयों ने उत्तम शिक्षा पाई थी। रामचन्द्र जी की योग्यता और प्रतिभा लोकोत्तर थी। वे शस्त्र और शास्त्र दोनों में ही पारंगत थे। विश्वामित्र ने अपने यज्ञ की रक्षा के लिए दशरथ की बड़ी भारी सेना के स्थान पर अकेले राम और लक्ष्मण को ही लेना पसंद किया। तब मुनि के यज्ञ की रक्षा करते हुए इन्होंने कितने ही राक्षसों का दमन किया।

धनुष-भंग और विवाह

मिथिलाधिपति महाराज जनक के यहाँ भूतभावन भगवान शिव का एक भारी धनुष था। जनक ने यह प्रतिज्ञा की थी जो वीर इस धनुष की प्रत्यंचा चढ़ायगा उसी के साथ वे अपनी पुत्री सीता का विवाह करेंगे। महाराज जनक की इस घोषणा को सुनकर संसार भर के शूरवीर योद्धा सीता के स्वयंवर में आए, पर वज्र-सदृश कठोर और सुमेरु समान भारी शिव-धनुष को कोई राजा हिला भी न सका।

इससे महाराज जनक बहुत व्याकुल हुए । उन्हें भय हुआ कि यदि उनकी प्रतिज्ञा पूरी न हुई तो सीता कुँआरी ही रह जायगी। उन्होंने दुखी होकर कहा—'वीर विहीन मही मैं जानी'—अर्थात् अब पृथ्वी पर कोई वीर ही न रहा।

दोनों रघुवंशीकुमार, श्री रामचन्द्र और लक्ष्मण भी विश्वामित्र ऋषि के साथ उस सभा-मंडप में मौजूद थे। लक्ष्मण ने जनक जी की उक्ति को सुन कर अपना अपमान समझा और बोले—'रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई, तेहि समाज अस कहइ न कोई।' श्री रामचन्द्र जी ने क्रुद्ध लक्ष्मण को शान्त कर, गुरु से आज्ञा ले धनुष को देखा और सहज ही में उठा लिया। लोगों के देखते-देखते उन्होंने ज्यों ही प्रत्यंचा चढ़ाई, धनुष खंड-खंड होगया। महाराज जनक प्रसन्न हुए और सीता जी का विवाह बड़े समारोह के साथ श्री रामचन्द्र जी से हो गया।

वनवास

इस विवाह के पश्चात् महाराज दशरथ ने अपना चौथापन आता देख श्री रामचन्द्र जी को युवराज बनाने का निश्चय किया। महाराज दशरथ अन्य दो रानियों (कौशल्या और सुमित्रा) की अपेक्षा कैकेयी से अधिक प्रेम करते थे। किसी समय कैकेयी के कार्य से प्रसन्न हो कर महाराज ने उसे दो वर दिये थे। श्री रामचन्द्र जी के राज्याभिषेक की खबर सुनकर कुबड़ी दासी मंथरा ने कैकेयी को उक्त वरदानों को पूरा कराने की सलाह दी।

कैकेयी ने आग्रह-पूर्वक महाराज दशरथ से दोनों वरदानों को पूरा करने के लिए कहा—अर्थात् एक से भरत को राज्य मिले और दूसरे से राम को वनवास। यह सुनते ही महाराज दशरथ दुःख से विह्वल हो गये; परन्तु श्रीरामचन्द्र ने जब उन दोनों वरदानों की

बात सुनी तो उनके मुख पर मलाल भी नहीं आया और वे स्वयं वन-गमन की तैयारी करने लगे। श्रीरामचन्द्र ने माता कैकेयी से कहा—मैं अपने पिता को उनकी प्रतिज्ञा से हटाना नहीं चाहता; मैं निश्चय ही वन को जाऊँगा।

कल जिनके राज्याभिषेक की तैयारी हो रही थी वही श्री रामचन्द्र जी आज वन-गमन की तैयारी करने लगे। उनके आज्ञाकारी भ्राता लक्ष्मण भी उनके साथ वन जाने को तैयार हुए। सती-साध्वी सीता जी भी पति का साथ देने के लिए आग्रह-पूर्ण प्रार्थना करने लगीं। उन्हें बहुत समझाया गया, परन्तु वे न मानीं। अन्त में माताओं से आशीर्वाद ले सारी प्रजा, माताओं और राजा दशरथ को बिलखता छोड़ कर सीता और लक्ष्मण के साथ रामचन्द्र जी ने वन की ओर प्रयाण किया। तीनों ने ही तपस्वियों की तरह वल्कल वस्त्र धारण किये हुए थे। कोई भी राज-चिह्न, उनके पास न था। आत्म-रक्षा के लिए केवल धनुष बाण उन के साथ थे।

महाराज दशरथ श्री रामचन्द्र जी से इतना अधिक प्रेम करते थे कि उन के वन जाने पर दुःख से उनकी मृत्यु हो गई। इस दुखद समाचार के पाने के बाद भरत जब अपने ननिहाल से लौटे तो उन्होंने रामचन्द्र जी को वन से वापिस लाने का प्रयत्न किया, अनेक प्रकार के अनुनय विनय किये, पर वे न माने।

जंगल में रामचन्द्र जी को कितने ही दुष्ट राक्षसों का वध करना पड़ा। एक दिन लंकाधिपति रावण की बहन शूर्पनखा ने आकर कुछ धृष्टता दिखाई, जिस पर लक्ष्मण जी ने क्रुद्ध हो कर उसके नाक-कान काट डाले। यह समाचार जब रावण को मिला तो वह अपनी बहन का बदला लेने के लिए छल पूर्वक उनकी पर्णकुटी में से सीताजी को चुरा लेगया। रामचन्द्र और लक्ष्मण सीता जी को

ढूँढते हुए ऋष्यमूक पर्वत पर पहुँचे। वहाँ उनकी वानर-राज सुग्रीव से मित्रता हुई। रामचन्द्रजी ने बाली को मार सुग्रीव को किष्किन्धा का राज्य दिलवाया और सुग्रीव ने उन्हें सीता को ढुँढवाने का वचन दिया। सुग्रीव ने सीता को खोजने के लिए चारों ओर अपने वानर दल को भेजा। उन में से हनुमान जी लंका पहुँच सीता जी से मिले और उन्होंने उनकी खबर लाकर श्री रामचन्द्र जी को दी।

तब रामचन्द्र जी ने सुग्रीव की सेना समेत लंका पर चढ़ाई की। वहाँ उनका रावण के साथ भयंकर युद्ध हुआ। इस युद्ध में रावण का छोटा भाई विभीषण श्री रामचन्द्र जी की ओर था। रावण की पूर्ण पराजय हुई और वह भाई-बन्धुओं सहित रणक्षेत्र में मारा गया। श्री रामचन्द्र जी ने लंका का राज्य विभीषण को दिया और वे सीता, लक्ष्मण तथा वानर दल समेत अयोध्या की ओर रवाना हुए। उन्होंने यह लंबी यात्रा पुष्पक विमान में की थी।

आज्ञाकारी तथा धर्मात्मा भाई भरत इतने दिन तक उनकी याद में तपोमय जीवन व्यतीत करते रहे। श्री रामचन्द्रजी के लौटने पर उनको राज्य सौंप वे निश्चिंत हुए। श्री रामचन्द्रजी का राज्य बहुत ही सुखमय था। ऐसा अच्छा शासन शायद ही कभी देखा गया हो। इसी कारण तो इतने वर्षों बाद भी अच्छे राज्य के लिए 'राम-राज्य' कहा जाता है। पर उनके अपने जीवन में सुख न बदा था। उस प्रजाप्रेमी रामचन्द्र ने सती-शिरोमणि गर्भवती सीता जी के प्रति अपवाद सुन प्रजा को प्रसन्न करने के लिए उन्हें अकेला जंगलों में छुड़वा दिया। सीता जी रोती बिलखती वाल्मीकि मुनि के आश्रम में पहुँचीं और वहीं उनके लव और कुश दो पुत्र हुए। कुछ वर्ष के बाद रामचन्द्र जी ने अश्वमेध यज्ञ किया। यज्ञ में पत्नी का होना आवश्यक था, पर रामचन्द्र जी ने सीता जी की प्रतिमूर्त्ति

बनवा कर ही यज्ञ को पूरा किया। इससे उनके सीता-प्रेम का पता लगता है। जगत् को, विशेषतः जो लोग सीता-परित्याग का दोष देकर रामचन्द्रजी को क्रूर कहते थे उन्हें, इस घटना ने बता दिया कि सीता-परित्याग से केवल सीता का जीवन ही दुःखमय न हो गया था, पर रामचन्द्रजी का निजू जीवन भी अत्यन्त दुःखमय हो गया था। पर प्रजारंजन के लिए उन्हें यह भी सहना पड़ा। यज्ञ में ही लव और कुश से उनकी भेंट हुई, और कुछ दिनों के अनन्तर उनको राज्य सौंप कर रामचन्द्रजी ने अपनी इह-लीला समाप्त की।

मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी का संपूर्ण जीवन ऐसा तप और त्याग का था कि आज भी संसार उनकी वन्दना करता है। उनके जीवन से अनेकों शिक्षाएँ मिलती हैं; जिन में से पिता की आज्ञा का पालन करना, भाइयों को प्राणों से भी प्यारा समझना, दीनों की रक्षा के लिए सदा तत्पर रहना, विपत्ति में भी न घबराना तथा प्रजारंजन को आदर्श समझना आदि मुख्य हैं। जो लोग सामाजिक और धार्मिक नियमों का पालन करते हुए अपना चरित्र आदर्श बनाना चाहते हैं उन्हें राम-चरित्र को पढ़कर तदनुकूल आचरण करने का प्रयत्न करना चाहिए।

महात्मा बुद्ध

हिंसा बढ़ी ऐसी कि मानव दानवों से बढ़ गये,
भू से न भार सहा गया, अविचार ऊपर चढ़ गये।
सहसा हमारा यह पतन देखा न प्रभु से भी गया,
तब शाक्य मुनि के रूप में प्रकटी दयामय की दया॥

—भारत-भारती

'शुद्ध बोधैक घन ज्ञान गुन धाम अज बुद्ध अवतार वन्दे कृपालं'
—विनय पत्रिका

आविर्भाव काल

गीता में श्रीकृष्ण भगवान ने कहा है कि जब जब धर्म में विकार आता है तब तब धर्म की रक्षा के लिए मैं अवतार धारण करता हूँ। समय समय पर धर्म में सुधार की आवश्यकता होती है। इसका कारण यह है कि मानसिक आलस्य-वश लोग धर्म के असली तत्त्व को भूल जाते हैं और रूढ़ि-वाद धर्म का स्थान ले लेता है। ऐसे समय कोई महात्मा अवतार लेकर जनता की आँखें खोल देता है। ईसा मसीह से छः सौ वर्ष पूर्व हिन्दू धर्म की कुछ ऐसी ही स्थिति हो गई थी। वैदिक कर्म-कांड ने हिंसावाद का रूप धारण कर लिया था। धर्म के नाम पर हत्याकांड रचा जाता था। अपनी इच्छाओं का बलिदान न कर लोग निरीह पशुओं का बलिदान करते थे। यद्यपि हिन्दू धर्म में भी इस निर्दय पशुघात के विरुद्ध आवाज़ उठाई जा रही थी तथापि उसको मूलोच्छेदन करने के लिए एक भारी क्रान्ति की आवश्यकता थी। उसी शान्ति-मय क्रान्ति के लिए महात्मा बुद्ध का अवतार हुआ था।

जन्म और बाल्यकाल

महात्मा बुद्ध के पिता महाराजा शुद्धोदन कपिलवास्तु के राजा थे। जन्म धारण करने के पश्चात् ही कुमार सिद्धार्थ (बुद्ध देव का बचपन का यही नाम था) अपनी माता रानी महामाया के प्रेम से वंचित हो गए और उनके पालन-पोषण का भार उनकी विमाता प्रजावती पर पड़ा। महारानी प्रजावती ने उनका पालन-पोषण बड़े लाड़-प्यार और उत्तरदायित्व के साथ किया। राजा ने भी अपने इकलौते पुत्र के लिए खान-पान, वस्त्र-आभूषण और

मनोविनोद की सामग्री उपस्थित करने में किसी बात की कमी न छोड़ी। पूत के पाँव पालने में पहचाने जाते हैं—कुमार

विवाह और निष्क्रमण

सिद्धार्थ अपने बाल्यकाल में ही सांसारिक विषयों से उदासीनता प्रकट करने लगे। उनके पिता ने उनको सांसारिक बंधनों में बाँधकर उनकी वैराग्य-वृत्ति दूर करने के लिए रूप और गुण से संपन्न यशोधरा नाम की एक कुलवती कन्या से उनका पाणिग्रहण करा दिया। इसका भी उन पर अधिक प्रभाव न हुआ। रोग, बुढ़ापे और मृत्यु के दुःखमय दृश्यों ने उनके हृदय में सोती हुई वैराग्य वृत्ति को पुनः जागरित कर दिया। उन्होंने सोचा कि यदि शरीर की यही दशा होनी है तो राज्य के ऐश्वर्यपूर्ण भोग-विलास से क्या लाभ ? इस विश्वव्यापी दुःख के शमन का उपाय खोजना चाहिए। कुछ दिन के अनंतर यशोधरा पुत्रवती हुई, परन्तु पुत्र और पत्नी का माया-बंधन उनके विचारों को बदल न सका और एक रात उन्होंने दुःखों से मुक्ति पाने का मार्ग ढूँढने के लिए घर से बाहर जाने का निश्चय कर लिया। संकल्प भंग होने के भय से उन्होंने यशोधरा को नहीं जगाया। उसके ऊपर एक बार क्षणिक दृष्टिपात कर तथा स्नेह-भरी दृष्टि से सुन्दर बालक को देखकर वहाँ से विदा हो वे चल दिये। घर से बाहर आकर उन्होंने अपना घोड़ा कसवाया और अपने साईस छंदक को अपने साथ ले लिया। कपिलवास्तु से कुछ दूर जा कर उन्होंने अपने केशों को तलवार से काटा और अपने वस्त्रा-भूषण छंदक को सौंप कर उसे कपिलवास्तु लौट जाने की आज्ञा दी। बेचारे छंदक की अवस्था सुमंत्र से भी खराब थी। सुमंत्र दशरथ की आज्ञा से रामचन्द्र जी को वन में छोड़ने गया था

छंदक तो राजा की आज्ञा के बिना ही गया था। अतः कुमार सिद्धार्थ को लौटाने के उनसे बहुत यत्न किये किन्तु वे सब निष्फल हुए।

तपश्चर्या और बोध

घर से निकल कर बुद्धदेव ने पाँच ब्रह्मचारियों के साथ कुछ दिन तप किया। तप में उन्होंने अपने शरीर को विलकुल घुला दिया। कुछ दिनों में उन पर तप की निस्सारता प्रकट हो गई और उन्होंने विचार द्वारा बोध प्राप्त करने का निश्चय किया। इस निश्चय से वे गया में एक पीपल के वृक्ष के नीचे समाधिस्थ हो बैठ गए। मार (कामदेव) ने उनको बहुत से प्रलोभन दिए किन्तु भगवान् बुद्ध ने उन सब पर विजय पाई। अन्त में चैत्र की पूर्णिमा की निर्मल ज्योत्स्ना में उनको ज्ञान की प्राप्ति होगई। उन्होंने जान लिया कि दुःख का कारण हमारी वासनाएँ हैं। वासनाओं का निरोध ही दुःख पर विजय पाना है।

धर्म का प्रचार

बुद्धदेव ने दुःख का कारण तथा उसके शमन का उपाय निश्चय कर अपने ज्ञान से दूसरों को लाभ पहुँचाने का संकल्प किया। सबसे पहले उन्होंने बनारस में जाकर उपदेश दिया। बनारस में सारनाथ के भग्नावशेष उसी 'धर्मचक्र-प्रवर्तन' के स्मारक हैं। भगवान बुद्ध ने अत्यधिक भोग-विलास तथा कठिन तपश्चर्या दोनों को छोड़कर बीच का साधन-मार्ग अपनाने के लिए कहा। उनका कहना था कि जो लकड़ी जल कर राख हो गई है, उसके द्वारा आग जलाने की चेष्टा अवश्य व्यर्थ होगी इसलिए कठिन तपस्या (निवृत्ति) क्लेशदायक और व्यर्थ है। साथही इन्द्रियों के सुख-भोग की लालसा (प्रवृत्ति) मनुष्य को मनुष्यत्व-हीन और नीच बना देती है। जीव-मात्र पर दया तथा सदाचार उनके धर्म के मुख्य अंग थे। अहिंसा और प्रेम से उन्होंने दिग्विजय करनी चाही। ऊँच-नीच के भेद-भाव तथा

कर्म-कांड के आडंबरों के विरुद्ध उन्होंने घोर आंदोलन प्रारम्भ किया। मनुष्य-मात्र में समता तथा मानसिक शुद्धि द्वारा निर्वाण पद पाने का उन्होंने प्रचार किया। शीघ्र ही बुद्ध देव की ख्याति सारे भारत में फैल गई। उनके पुत्र राहुल तथा अन्य स्वजनों ने भी उनके धर्म और संघ की शरण ली तथा और भी बहुत से राजा महाराजाओं ने उनके धर्म को अपनाया।

मृत्यु

बुद्धदेव बहुत काल तक अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे। और कई स्थानों में चातुर्मास व्यतीत कर उन्होंने नाना प्रकार के उपदेश दिये। ८० वर्ष की परिपक्व अवस्था में उन्होंने उदर-विकार से पीड़ित होकर महा-निर्वाण को प्राप्त किया। उनके शव का संस्कार राजाओं की भाँति धूम-धाम से किया गया। उनकी अस्थियों के ८ भाग करके आठों दिशाओं में उनके स्मारक-स्तूप बनाये गए।

इस प्रकार इस महापुरुष का संपूर्ण जीवन सांसारिक दुःखों से मुक्त होने के उपाय ढूँढने, उनका पता लगाकर उन्हें सारे देश में फैलाने, लोगों को कल्याण का मार्ग दिखाने और विश्व-भ्रातृ-भाव फैलाने में ही व्यतीत हुआ। यद्यपि उनका नश्वर शरीर तो मिट गया तथापि उनका यशःशरीर सदा के लिए अमर होगया। आज हजारों वर्षों के बाद भी ५५ करोड़ मनुष्य 'बुद्धो मे शरणम्' कहकर अपने को कृतार्थ मानते हैं।
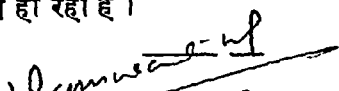
संसार में उन का प्रभाव

उनके मरने के पश्चात् बौद्ध धर्म सारे भारत में फैल गया। महाराज अशोक ने उसे लंका आदि देशों में पहुँचाया। क्रमशः तिब्बत, चीन, जापान आदि एशिया के कई देश बौद्ध धर्म के झंडे के नीचे आगए। एक समय ऐसा था कि बौद्ध धर्म के

अनुयायियों की संख्या सब धर्मवालों से अधिक थी। भारतवर्ष में तो शंकराचार्य आदि के प्रभाव से बौद्धधर्म उठ गया किन्तु चीन, जापान, लंका, ब्रह्मा, तिब्बत आदि में अब भी बौद्धधर्म का राज्य अविकल चला जाता है। अब भारतवर्ष में भी बौद्ध धर्म के पुनरुद्धार का यत्न हो रहा है।

मीराबाई

भक्तिकाल

यद्यपि भगवद्भक्ति के लिए देश और काल का कोई बन्धन नहीं है, क्योंकि सभी देशों में और सभी कालों में ईश्वरभक्त हुए हैं, तथापि हिन्दी-साहित्य में संवत् १३७५ से १७०० तक का समय भक्ति के लिए विशेष प्रसिद्ध है। यहाँ तक कि इस काल का नाम भक्ति-काल पड़ गया है। इस समय में कबीर, जायसी, सूरदास, तुलसीदास, नाभादास, नन्ददास, हितहरिवंश आदि अनेक महात्मा हुए और साहित्य में भक्तिरस की बाढ़ रही। प्रभुचरणानुरागिनी मीराबाई का प्रादुर्भाव इसी भक्ति-प्रधान समय में हुआ था।

जन्म तथा बाल्य-काल

मीराबाई जोधपुर राज्य के अंतर्गत मेड़ता प्रांत के राठौर रतनसिंह की इकलौती पुत्री थीं। इनका जन्म संवत् १५५५ और १५६० के बीच माना जाता है। बाल्य-काल से ही भगवद्भक्ति की ओर इनकी अभिरुचि थी। जब बच्चे गुड्डे-गुड्डियों से खेला करते हैं तब ये एक साधु द्वारा प्राप्त गिरिधर जी की मूर्ति से दिल बहलाती थीं। अपने दादा राव दूदा जी के साथ रहने से इन पर भक्ति का यह रंग और भी बढ़ता गया।

विवाह तथा जीवन की अन्य घटनाएँ

सं० १५७३ में इनका विवाह उदयपुर के सिसौदिया-कुल-तिलक महाराणा साँगा के कुँवर भोजराज के साथ हुआ । विवाह के अनंतर मीरा चित्तौड़ आ गईं । अब ये चित्तौड़ के भावी राणा की रानी थीं । चित्तौड़ में ये मेड़तनी (मेड़ता की होने के कारण) रानी के नाम से प्रसिद्ध थीं । इनका विवाहित जीवन बड़ा सुखमय था । परन्तु दुष्ट विधि से इनका यह सुहाग न देखा गया । विवाह हुए अभी दस वर्ष भी नहीं बीते थे कि कठोर काल ने कुमार भोजराज को इस दुनियाँ से उठा लिया । इस घटना से मीराबाई के जीवन में भारी परिवर्तन हो गया । मारवाड़ की राजकुमारी और मेवाड़ की होने वाली महारानी इस भीषण आघात के कारण स्वेच्छा से दर-दर की भिखारिणी और प्रेम-दीवानी हो गईं । मर्त्य पति की मृत्यु के अनन्तर ये मर्त्यलोक के सब नाते तोड़ अमर्त्य स्वामी गिरिधरलाल जी की सेवा में लग गईं । इनका आचार-व्यवहार बिलकुल विरक्त साधुओं का-सा हो गया । देश-विदेश के साधु महात्मा इनके सत्संग और कीर्तन में सम्मिलित होने को आया करते थे और इनके घर पर सदा भगवद्भक्तों की भीड़ लगी रहती थी । इनके देवर विक्रमाजीत को रानी के महल में साधुओं का आना-जाना लोक-मर्यादा के विरुद्ध प्रतीत होता था, किन्तु भक्त लोग अपने को लोक-मर्यादा से परे समझते हैं । मीराबाई तो गिरिधर गोपाल के अतिरिक्त और किसी का अधिकार ही नहीं मानती थीं—

> मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई ।
> सन्तन ढिग बैठि-बैठि लोक-लाज खोई ॥

इनके घरवालों ने इनकी इस मनोवृत्ति को बदलने के लिए बहुत

उपाय किये। जिन सहेलियों को इनके विचार-परिवर्तन का कार्य सौंपा गया था वे मीरा पर कोई प्रभाव न डाल सकीं बल्कि स्वयं ही उनके रंग में रँग गईं। मीरा तो श्याम-रंग में रँगी हुई थीं, उन पर दूसरा रंग कैसे चढ़ सकता था। सूरदास जी ने जो बात दुर्जनों के लिए कही है वह सज्जनों के संबंध में भी ठीक है अर्थात् 'सूरदास खल कारी कामरी चढ़ै न दूजो रंग'।

जब समझाने-बुझाने के सब उपाय निष्फल गये तब इनको भगवद्चरणामृत के बहाने विष का प्याला भेजा गया। यद्यपि ये वास्तविक बात जान गई थीं तथापि इन्होंने चरणामृत के नाम से आई हुई वस्तु की अवज्ञा करना उचित न समझा और प्रसन्नता पूर्वक विष का प्याला पी लिया। भगवान की कृपा से विष का प्याला अमृत हो गया।

जब घर के लोगों की ओर से इनके मार्ग में और भी विघ्न-बाधाएँ उपस्थित की जाने लगीं तब इन्होंने भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी को पत्र लिखकर उनसे सलाह ली—

घर के स्वजन हमारे जेते सबन्ह उपाधि बढ़ाई।
साधु-संग अरु भजन करत मोहिं देत कलेस महाई॥
बालपने ते मीरा कीन्हीं गिरिधरलाल मिताई।
सो तो अब छूटत नहिं क्योंहूँ लगन लगी बरियाई॥
मेरे मात-पिता के सम हौ हरिभक्तन्ह सुखदाई।
हम को कहा उचित करिबो है सो लिखिए समुझाई॥

उत्तर में तुलसीदास जी ने निम्नलिखित पत्र भेजा—

जाके प्रिय न राम बैदेही
सो नर तजिय कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।

× × ×

'तुलसी' सोइ सब भाँति आपनो पूज्य प्राण ते प्यारो।
जातें होइ सनेह राम सों सोई मतो हमारो॥

इस उपदेश को पाकर ये अपनी शिष्याओं के साथ अपने मायके मेड़ता को चली गईं। वहाँ भी ये अधिक दिन न रहीं। इनका मन तो इनके गिरिधर लाल के चरणों से पवित्र हुई भूमि में ही लग सकता था। अतः ये वृन्दावन गईं, फिर वहाँ से द्वारिका धाम को पधारीं, वहाँ श्रीरणछोड़ जी के मन्दिर में रहकर जीवन व्यतीत करने लगीं। इनकी मृत्यु संवत् १६२० और १६३० के बीच में बताई जाती है।

कहा जाता है इन्होंने छुआछूत तथा अपने पद का विचार न कर भक्त रैदास से दीक्षा ली थी। जैसे कहा है—"मीरा ने गोविंद मिल्या जी गुरु मिलिया रैदास"। इनका विचार था ईश्वर-प्रेम में जाति-पाँति का बन्धन नहीं होता—"हरि को भजै सो हरि का होई"। परन्तु कई लोग रैदास को इनका गुरु नहीं मानते।

उनका प्रभाव

मीराबाई का हृदय भक्ति से परिपूर्ण था। इनके हृदय-स्रोत से बही हुई भक्तिरस की सुधा-धारा आजतक हिन्दी साहित्य को पवित्र कर रही है। इनकी अमर वाणी इनके हृदय में ईश्वर-संबंधी प्रेम की तीव्रता की द्योतक है। भारत की कवयित्रियों में वे शिरोमणि मानी जाती हैं और भारतीय स्त्रियों में उनका नाम गौरव की वस्तु है।

महाराणा प्रताप

इस परिवर्तनशील संसार में सभी जन्म लेते और मर जाते हैं, किन्तु जन्म लेना उसी का सार्थक है जिससे देश, जाति वा कुल का गौरव बढ़े। महाराणा प्रताप ऐसे ही विरले व्यक्तियों में से थे।

वे मेवाड़ के महाराणा उदयसिंह के पुत्र थे। उनका जन्म ९ मई सन् १५४० को हुआ था। स्वनामधन्य राणा संग्रामसिंह के बाद मेवाड़ की शक्ति घट गई थी। महाराणा उदयसिंह के राज्यकाल में मुगल-सम्राट् अकबर ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया और बड़ी घमासान लड़ाई के बाद उसे जीत लिया। महाराणा डर कर भाग गया और पीछे उसने उदयपुर नगर बसा कर उसे अपनी राजधानी बनाया।

पिता की मृत्यु के बाद महाराणा प्रतापसिंह मेवाड़ की गद्दी पर बैठे। उस समय समस्त राजपूताना ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली थी। अन्य राजपूतों का तो कहना ही क्या, उनके भाई शक्तिसिंह भी बादशाह से जा मिले थे और कुछ नरेशों ने तो अपनी लड़कियों का विवाह भी बादशाह से कर दिया था। महाराणा प्रतापसिंह जन्म से ही शूरवीर और पराक्रमी थे। वे बादशाह को नाममात्र के लिए भी सम्राट् मानने के लिए तैयार नहीं थे। वे मृत्यु को पराधीनता से श्रेयस्कर समझते थे। सिंहासन पर बैठते ही उन्होंने भीषण प्रतिज्ञा की कि जब तक मैं चित्तौड़ को न जीत लूँगा, तब तक सोने-चाँदी के बरतनों में भोजन न करूँगा, और न पलँग पर सोऊँगा। अब वे समस्त सुखों को छोड़ कर राजसी

जीवन त्याग कर पत्तल पर खाना खाते और ज़मीन पर चटाई बिछा कर सोते। उन्होंने इस दृढ़ प्रतिज्ञा का आजन्म निर्वाह किया। अब तक भी मेवाड़ में पत्तलों पर खाना खाने की प्रथा चली आती है।

इसी समय अकबर के प्रसिद्ध सेनापति राजा मानसिंह मेवाड़ में आए। महाराणा प्रताप ने उनका उचित सत्कार किया, परन्तु जब भोजन का समय आया तो कहला भेजा कि मेरे सिर में दर्द है। राजा मानसिंह ने इस 'सिर दर्द' का आशय समझ लिया। क्रोध से उन्मत्त होकर उन्होंने महाराणा का मान-भंग करने की प्रतिज्ञा की; परन्तु उनको इसका समुचित उत्तर मिल गया। बिना भोजन किये ही वे क्रुद्ध होकर चले गये और दिल्ली जाकर उन्होंने बादशाह को उत्तेजित किया। बादशाह तो मेवाड़ पर आक्रमण करना ही चाहता था। उसने प्रताप की ऐसी चेष्टा देख कर सलीम के नेतृत्व में वहाँ एक प्रबल सेना भेज दी।

अब तो मेवाड़ पर विपत्ति के बादल छा गये। महाराणा ने धैर्यपूर्वक युद्ध की तैयारी की। सन् १५७६ ई० में हल्दीघाटी नामक स्थान पर भीषण युद्ध हुआ। महाराणा प्रताप ने अद्भुत वीरता और प्रचंड पराक्रम का परिचय दिया। अपने चेटक नामी घोड़े पर सवार हो वे शत्रुओं का संहार करने लगे। वैरियों को मारते-काटते वे सलीम के निकट पहुँच गये, परन्तु ईश्वर की कृपा से उसके प्राण बच गये और महाराणा का वार असफल हुआ। मुट्ठी भर राजपूतों ने मुगलों की असंख्य सेना को मार गिराया; परन्तु अन्त में उन्हें पीछे हटना पड़ा। महाराणा का घोड़ा चेटक घायल हो कर उन्हें युद्ध भूमि से भगा ले गया।

धीरे-धीरे महाराणा के सारे क़िले मुग़लों के हाथ में चले गये। गोगुंदा और कुंभलगढ़ के दुर्ग निकल जाने पर उन्हें जंगल का

आश्रय लेना पड़ा। वे अनेक वर्षों तक दुर्गम पहाड़ों और निर्जन जंगलों में भटकते फिरे। बादशाही सेना उनका पीछा करती थी। इस समय उन्हें अनेक आपत्तियों का सामना करना पड़ा, लेकिन इन विपत्तियों ने उनके उत्साह और स्वाभिमान को द्विगुणित कर दिया। वे इधर-उधर मारे मारे फिरते थे। जंगली फल-फूलों और घास की रोटियों पर उन्हें गुजारा करना पड़ता। कभी-कभी वे भी नसीब नहीं होती थीं और उपवास ही करना पड़ता था। एक दिन महाराणा की लड़की भूख से आतुर हो आर्तनाद करने लगी। महाराणा का हृदय पिघल गया और वे अकबर की अधीनता स्वीकार करने को उद्यत हो गये। कहते हैं कि उन्होंने अकबर के पास संधि-पत्र भी भेज दिया था। परन्तु बीकानेर के राजा पृथ्वीराज ने बड़े जोशीले शब्दों में उन्हें सचेत किया। इसी समय महाराणा के मंत्री भामाशाह ने अपने भाई ताराचन्द की सहायता से मालवा को लूटा और वहाँ से अनन्त संपत्ति लाकर महाराणा के चरणों में अर्पित कर दी। महाराणा ने इस धन के द्वारा सेना इकट्ठी की और मुगलों से अपने जीते हुए प्रदेश वापिस लेना शुरू किया। थोड़े दिनों में उन्होंने चित्तौड़ को छोड़ कर समस्त मेवाड़ पर फिर आधिपत्य जमा लिया। लेकिन वे अधिक समय तक स्वतंत्र मेवाड़ में न रह सके। १९ जनवरी सन् १५९७ को कराल काल ने उन्हें सदैव के लिए उठा लिया। मृत्यु के समय राजकुमार अमरसिंह की विलास-प्रियता से उन्हें बहुत दुःख हुआ। समस्त सरदारों ने उन्हें देश की स्वतंत्रता को स्थिर रखने का वचन दिया, तब उन्हें कुछ सांत्वना मिली।

महाराणा प्रताप वीर क्षत्रिय थे, स्वतन्त्रता के पुजारी थे, आदर्श देश-भक्त थे, त्याग की मूर्ति थे और दृढ़-प्रतिज्ञता के

अवतार थे। जन्मभूमि ही उनके लिए सब से प्यारी निधि थी, वही स्वर्ग था, वही गौरव का स्थान था, वही जनक और वही जननी थी। तन मन धन से उसकी सेवा करना, प्राणों को हथेली पर रख कर भी उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा करना ही उनका ध्येय था, और मरते दम तक उन्होंने इसे निभाया। उनकी सच्ची देश-सेवा, त्याग और वीरता की अक्षयकीर्ति सदैव अमर रहेगी। उनके दृढ़ संकल्प और आत्म-गौरव का उत्तम आदर्श आज भी हृत्तंत्री के तारों को स्वाभिमान की ध्वनि से मुखरित कर देता है। उनके जीवन से उत्साह और स्फूर्ति का संचार होता है। उनकी जीवनी को पढ़ कर निर्बल से निर्बल मनुष्य का भी खून जोश मारने लगता है।

छत्रपति शिवाजी

हिन्दू-धर्म-रक्षक वीर-शिरोमणि शिवाजी का जन्म सन् १६२७ ई० में पूना के निकट हुआ था। उनके पिता का नाम शाहजी और माता का नाम जीजीबाई था। शाहजी एक साधारण से ज़मींदार थे। जीजीबाई सुशिक्षिता विदुषी थीं। जिस समय शिवाजी का जन्म हुआ उस समय समग्र भारत मुसलमान विजेताओं द्वारा पादाक्रान्त हो रहा था।

माता जीजीबाई ने तत्कालीन मुसलमानी अत्याचारों का बहुत कुछ अनुभव करते हुए शिवाजी को उनके विरुद्ध तैयार करने का निश्चय कर लिया था। वे उन को रामायण और महाभारत से वीरों के चरित्र सुनातीं और हिन्दू धर्म की शिक्षा देती थीं।

बाल्य-काल से ही हिन्दुओं की वीरता की उत्साह-वर्द्धक गाथाएँ सुनकर शिवाजी का हृदय अदम्य शौर्य और साहस से भर गया था। बीस वर्ष की आयु तक उन्होंने अस्त्र-शस्त्र चलाना, कुश्ती लड़ना, घोड़े की सवारी और सेना-संगठन करना सीख लिया था। इस तरह उन्होंने युद्ध के प्रत्येक विभाग में कौशल प्राप्त कर लिया था।

उन्होंने मराठों में एकता का मंत्र फूँका और उनका संगठन किया। मराठा सैनिकों का एक दल संगठित करके उन्होंने आस-पास के किलों पर धावा करना आरंभ किया। पुरन्धर, तोरण, रैरी आदि कितने ही क़िले थोड़े दिनों में ले लिये। बीजापुर का सुलतान शिवाजी की यह उन्नति देखकर मन ही मन चिन्तित होने लगा। उसने शिवाजी को पकड़ना चाहा, पर यह कोई आसान काम न था। जब सुलतान शिवाजी को पकड़ न सका, तो उसने उनके पिता शाहजी को कैद कर लिया, परन्तु शिवाजी ने मुगल-सम्राट् शाहजहाँ के साथ पत्र-व्यवहार कर उसके द्वारा बीजापुर-नरेश को शाहजी को मुक्त करने के लिए बाध्य किया।

तब सुलतान ने अपने एक प्रबल सेनापति अफ़ज़लखाँ को एक विराट सेना के साथ शिवाजी को वश में करने को भेजा और उसे यह आज्ञा दे दी कि शिवाजी को बन्दी करके ले आओ। अफ़ज़लखाँ ने शिवाजी से संधि करने का प्रस्ताव किया और शिवाजी से मिलने की इच्छा प्रकट की। शिवाजी उससे मिलने आये, पर बहुत ही सतर्क होकर। उन्होंने शरीर पर लोहे का कवच धारण करके ऊपर सुन्दर अँगरखा पहन लिया। उन्होंने हाथ में बघ-नखा लगा रक्खा था जो मुट्ठी बाँधने पर अँगूठी सा मालूम होता था; पर हाथ खोल

देने पर लोहे के बहुत पैने नाखून निकल आते थे। उधर अफ़ज़लखाँ भी अपने दाँव-घात में लगा था और अपनी कपट-युक्ति से उन्हें मारने के मनसूबे बाँध रहा था।

अफ़ज़ल ने अपनी कपट-युक्ति से ज्यों-ही शिवाजी को मारने की तैयारी की त्यों-ही उन्होंने अपना बघनखा अफ़ज़ल के पेट में घुसेड़ कर उसका काम तमाम कर दिया। मराठों की सेना भी गुप्त-रूप से तैयार खड़ी थी, वह शिवाजी का इशारा पाते ही बीजापुर की सेना पर टूट पड़ी और उसे मार भगाया। इसके बाद बीजापुर के सुलतान ने कई बार शिवाजी को परास्त करने का उद्योग किया, परन्तु वह असफल रहा। अंत में उस ने शिवाजी की स्वाधीन सत्ता मान ली, और जो देश उन्होंने जीते थे उनका उन्हें शासक स्वीकार कर लिया।

इसके बाद शिवाजी का ध्यान मुगल-साम्राज्य की ओर गया, और उस पर उन्होंने जहाँ-तहाँ आक्रमण करने आरंभ कर दिये। सम्राट् औरंगज़ेब के अत्याचारों से हिन्दू अत्यन्त ही पीड़ित हो रहे थे। शिवाजी ने उसका विरोध करने का निश्चय किया। शिवाजी की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर औरंगज़ेब ने अपने मामा शाइस्ताखाँ और राजा जसवन्तसिंह को उन्हें दबाने के लिए भेजा। शिवाजी ने अचानक एक दिन रात को शाइस्ताखाँ के महल पर हमला कर दिया, जिससे उसे पूना छोड़ कर भागना पड़ा।

अब औरंगज़ेब बहुत घबराया और शिवाजी को वश में करने के उपाय सोचने लगा। इस बार उस ने जयपुर के राजा जयसिंह को शिवाजी के विरुद्ध भेजा। जयसिंह मुगल साम्राज्य के अग्रगण्य योद्धा थे। इसके सिवाय शिवाजी हिन्दुओं से लड़ना भी

नहीं चाहते थे। इस लिए शिवाजी ने जयसिंह से संधि कर ली और मुगलों के जो दुर्ग जीते थे वे लौटा दिये। जब औरंगज़ेब ने शिवाजी और जयसिंह के बीच संधि का समाचार सुना तो उसने शिवाजी से मिलने की इच्छा प्रकट की। जयसिंह के आश्वासन पर शिवाजी औरंगज़ेब के निमंत्रण को न टाल सके। सन् १६६६ में शिवाजी आगरे के लिए रवाना हुए। पर स्वागत करने के बदले औरंगज़ेब ने उनका अपमान किया, और उन्हें क़ैद कर लिया। शिवाजी भी कुछ कम चतुर न थे। वे अपनी चालाकी से मिठाई के एक टोकरे में बैठ पहरे वालों को चकमा देकर वहाँ से निकल गये और अनेकों कष्टों और ख़तरों का सामना करते हुए कई महीनों बाद अपनी राजधानी रायगढ़ में पहुँचे।

दक्षिण पहुँच कर शिवाजी ने फिर अपनी सेना का संगठन किया। औरंगज़ेब को दिये हुए कई दुर्ग उन्होंने फिर जीत लिये, और कई नये प्रदेश भी जीते। अब शिवाजी सब तरह शक्तिशाली और समर्थ थे। उन्होंने मुगल-सेनाओं को बारंबार परास्त किया। सन् १६७४ में शिवाजी ने नियमित रूप से देश का अधिपति बनने का आयोजन किया। रायगढ़ में छत्रपति नरेन्द्र की हैसियत से उनका राज्याभिषेक हुआ। इस के बाद उन्होंने दक्षिण में दूर तक अपनी विजय वैजयन्ती फहराई। कितने ही प्रबल दुर्गों पर उन्होंने अधिकार किया, और प्राचीन विजयनगर साम्राज्य के अधिकांश भाग को अपने राज्य में मिला लिया। बीजापुर और गोलकुंडा के राजाओं ने उन्हें कर देना स्वीकार किया। दक्षिण में उनका दबदबा बैठ गया। इस प्रकार अपने बुद्धिबल और बाहुबल से शिवाजी ने शक्तिशाली राज्य की स्थापना की। सन् १६८० में ५३ वर्ष की आयु में उनका स्वर्गवास हुआ।

शिवाजी का शासन-प्रबन्ध भी अत्युत्तम था। शासन के कार्य में वे उतने ही चतुर थे जितने युद्धक्षेत्र में। राज्य-शासन के लिए उन्होंने एक सभा बनाई थी जिसका नाम "अष्ट-प्रधान" था। इस के आठ सदस्य थे। प्रत्येक सदस्य राज्य के एक-एक विभाग का संचालक होता था। इसी सभा की सलाह से शिवाजी राज्यकार्य करते थे।

शिवाजी का प्राय: सारा जीवन ही युद्धभूमि में बीता था। एक साधारण जागीरदार के घर में पैदा होकर और विशाल राज्य के अधिपति औरंगज़ेब के लगातार घोर विरोध करते रहने पर भी उन्होंने अपने बाहुबल और चतुरता से सुदृढ़ राज्य की नींव डाली। यह असाधारण कार्य बिना दुर्लभ मानवीय गुणों के न हो सकता था। युद्ध करते हुए भी शिवाजी ने जैसा उत्तम राज्य-प्रबंध किया था, वैसा बहुत कम लोग शान्ति-काल में भी कर सकते हैं। कट्टर हिंदू, गो-ब्राह्मण-सेवक एवं हिंदू धर्म के भक्त होते हुए भी शिवाजी में धार्मिक असहिष्णुता का लेश न था। औरंगज़ेब के मथुरा, काशी आदि तीर्थों को ध्वंस करने के समाचार सुनते रहने पर भी शिवाजी ने कभी किसी मुसलमान के विरुद्ध अमानुषिक अथवा पक्षपातपूर्ण व्यवहार नहीं किया। कभी कोई मस्जिद आदि नहीं गिरवाई। शत्रु की स्त्रियों के कैद होजाने पर भी उन्होंने उन्हें आदर-पूर्वक उनके संबंधियों के पास पहुँचाकर अपनी सहृदयता का परिचय दिया। साहस, दृढ़ता और जोश उनकी रग-रग में भरा था। बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता और चातुरी उन्होंने विशेष रूप से पाई थी। ईश्वर और धर्म पर उनका दृढ़ विश्वास था। युद्धक्षेत्र में भी वे ईश्वर की उपासना और नित्यकर्म करने के लिए समय निकाल लिया करते। इन व्यक्तिगत एवं राजकीय विशेषताओं के होने

के ही कारण शिवाजी ने वह काम कर दिखाया जो बहुत कम लोगों के लिए संभव है । इस लिए उनका नाम बड़े आदर और श्रद्धा से लिया जाता है तथा आगे भी सदा इसी तरह लिया जाता रहेगा ।

महाराजा रणजीतसिंह

आविर्भाव काल

गुरु गोविंदसिंह ने सिक्ख जाति में जो क्षात्र-बीज बोया था उसके फल-स्वरूप सिक्ख जाति योद्धा जाति बन गई । गुरुजी के आत्म-त्याग, बलिदान, धर्म-प्रेम और वीरता से भरे हुए रचनात्मक कार्यों का शीघ्र ही प्रत्यक्ष फल दृष्टिगोचर हुआ । उन्होंने जिस आदर्श को देश के सामने रक्खा, उसी का अनुकरण कर आगे चलकर पंजाब में सिक्ख-राज्य की स्थापना हुई ।

गुरु गोविन्दसिंह के बाद सिक्खों का कोई धर्मगुरु नहीं हुआ, परन्तु उनका सैनिक नेता बंदा वैरागी बना । उसने कितने ही स्थानों पर मुसलमानों को हराया और उनके प्रदेशों पर अपना अधिकार कर लिया । परन्तु अन्त को बादशाह फर्रुखसियर ने उसे बहुत से साथियों समेत पकड़ कर बड़ी क्रूरता से मरवा डाला । इसके पश्चात् सिक्खों पर अकथनीय अत्याचार हुए । इससे सिक्ख-शक्ति कुछ काल के लिए क्षीण अवश्य हो गई, पर दबी नहीं ।

जब नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली मुग़ल-सल्तनत और विशेषतया पंजाब को कुचल कर वापिस लौट चुके थे, तब सिक्ख सरदारों ने फिर सिर उठाना शुरू किया; पर उस समय उनका कोई एक नेता नहीं था । भिन्न-भिन्न सरदारों ने अपने अलग-

अलग जत्थे बना लिए थे जो मिसल कहलाते थे। इन मिसलों के सरदार मुसलमान शासकों पर छापे मारते और लूट-मार किया करते थे। इसी लूट-मार के ज़ोर पर रणजीतसिंह के पिता महासिंह ने भी ३ लाख की आमदनी का इलाका अपने अधीन कर लिया था। महासिंह का विवाह जींद के राजा राजपतिसिंह की कन्या राजकुँवरि से हुआ था। उसी के गर्भ से सन् १७८० में महाराजा रणजीतसिंह का जन्म हुआ। जिस दिन रणजीतसिंह का जन्म हुआ उस दिन इनके पिता युद्ध में संलग्न थे, ठीक उसी दिन उन्होंने आक्रमणकारियों को पराजित कर रण में विजय प्राप्त की थी। अतएव उन्होंने अपने पुत्र का नाम रणजीतसिंह रखा। नाम के अनुसार रणजीतसिंह ने रण में सदा विजय ही प्राप्त की। बाल्यावस्था में इनकी शिक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया गया, इसलिए ये कुछ पढ़ लिख नहीं सके; परन्तु उत्साह और पराक्रम-रूपी वीरोचित शिक्षा का संचार इनकी नस-नस में हो गया था।

रणजीतसिंह अभी १२ वर्ष के ही थे कि इनके पिता का देहांत हो गया और इन पर शासन का बोझ आ पड़ा।

राज्य-काल

रणजीतसिंह बड़े बुद्धिमान शासक और चतुर सैनिक थे। अपनी बुद्धिमत्ता और वीरता के कारण वे शीघ्र ही अन्य मिसलों के सरदारों से आगे निकल गये। १९ वर्ष की अवस्था में ये अब्दाली के पुत्र अफ़गान-नरेश जलालशाह की ओर से लाहौर के सूबेदार बनाये गये। तब इन्होंने राजा की पदवी धारण की। तीन वर्ष के भीतर ही ये आज़ाद हो गये। इधर अफ़गानों में घरेलू युद्ध हो रहे थे, उन्हें इनकी ओर ध्यान देने का अवसर नहीं था। इसी समय इन्होंने सिक्खों के धर्मस्थान अमृतसर को जीता। काश्मीर को विजय करके तथा सतलुज

के उत्तर की समस्त मिसलों को अपने अधिकार में करके ये पंजाब के एक-छात्र राजा बन बैठे।

कुछ समय तक सतलुज उनके राज्य की दक्षिण पूर्वी सीमा रही। सन् १८०६ में कुछ सिक्ख सरदारों में, जिन्हें सतलुज और यमुना के बीच में जागीरें मिली हुई थीं, आपस में झगड़ा हो गया और उन्होंने इनसे फैसला करने को कहा। इस पर उनके विरोधियों ने ब्रिटिश सरकार से अपील की, क्योंकि यह प्रदेश (जो कुछ समय सरहिंद के नाम से मशहूर रहा था और जिस पर किसी समय सिंधिया का अधिकार था) सिंधिया की पराजय के बाद अंग्रेज़ों के अधिकार में चला गया था। लार्ड मिंटो अपने पड़ोस में सिक्ख शक्ति को प्रबल होने देना नहीं चाहता था। अतः उसने समझौते के लिए मैटकाफ़ को पंजाब में भेजा। बहुत कुछ वाद-विवाद के बाद सन् १८०६ में अमृतसर में एक सुलहनामा तैयार किया गया, जिसके अनुसार सतलुज नदी को सिक्खों के राज्य की सीमा मान लिया गया, और लुधियाना में अंग्रेज़ों की सीमांत छावनी हो गई।

इनका कार्य यहीं तक नहीं रुका। भारत का पश्चिमोत्तर प्रांत अफ़गानों के आधिपत्य में था। इन्होंने अपनी शक्तिशालिनी, रण-कुशल सेना को लेकर उन पर आक्रमण कर दिया और घोर संग्राम के बाद संसार का सबसे मूल्यवान कोहेनूर हीरा शाहशुजा से प्राप्त किया।

इसके बाद इन्होंने उत्तर और पश्चिम में राज्य-विस्तार करने का निश्चय किया और धीरे-धीरे मुलतान, काश्मीर और अटक को अपने राज्य में मिलाया।

रणजीतसिंह अपने समय के प्रतापी राजा थे। इनके पास

विशाल, सुव्यवस्थित और रण-कुशल सेना थी।
प्रभाव उसको इन्होंने पाश्चात्य ढंग से शिक्षा दिलाई थी
और स्वयं उसका निरीक्षण किया करते थे।
इनका शासन प्राचीन हिन्दू-प्रणाली से होता था। राज्य में सर्वत्र शांति और समृद्धि छाई हुई थी। जो देश कुछ वर्षों पहले भीषण युद्धों से जर्जरित होगया था, जिसमें अराजकता फैली हुई थी, दिन-दहाड़े लूट-खसोट होती थी और आए-दिन विदेशियों के आक्रमण होते थे उसे इन्होंने एक समृद्ध राज्य में परिवर्तित कर दिया। दूर के जिलों में कभी-कभी गड़बड़ हो जाती थी, परंतु इनकी कुशल राजनीति और प्रभुत्व के द्वारा राज्य के कोने-कोने में इनका आतंक छाया हुआ था। अपराधियों को कठोर दंड दिया जाता था।

इनके दरबार में धार्मिक सहिष्णुता थी। हिन्दू और मुसलमान सब को बिना किसी भेदभाव के प्रतिष्ठित और उच्च पदों पर नियत किया जाता था। धार्मिक पक्षपात को इन्होंने कभी अपने भीतर नहीं आने दिया। जिस प्रकार राजा गुलाबसिंह और ध्यानसिंह आदि सिक्ख सरदार आदर के पात्र थे उसी प्रकार काज़ी अज़ीज़ुद्दीन भी इनके विश्वास-पात्र मंत्रियों में गिने जाते थे। तात्पर्य यह है कि ये सब के साथ समान भाव से बरताव करते थे। अपनी हिन्दू और मुसलमान प्रजा पर पक्षपात से रहित हो न्याय-पूर्वक पिता की नाईं शासन करते थे और राज्योन्नति के साथ-साथ उनके सुख-दुख की चिन्ता रखते थे।

बचपन में इनको चेचक ने कुरूप कर दिया था, और इनकी एक आँख चेचक से मारी गई थी, परन्तु फिर भी ये तेजस्वी दीखते थे। इनका ऐसा तेज और पराक्रम था कि किसी को हँसी करने

अथवा दरबार के नियम को उल्लंघन करने की हिम्मत नहीं पड़ती थी। यद्यपि ये पढ़े-लिखे न थे तथापि राज्य-शासन में पूर्ण कुशल थे, और युद्ध-विद्या में अत्यंत दक्ष थे। समय पड़ने पर साम, दाम, दंड, भेद, सब से कार्य करते थे। जब तक ये जीते रहे इन्होंने राज्य की बागडोर अपने हाथ में रक्खी और उसे सब प्रकार से सुसंयत रक्खा। किन्तु कराल-काल ने इस प्रतापी पंजाब-केसरी को २७ जून सन् १८३९ ई० में भारत-भूमि से सदैव के लिए उठा लिया।

इनकी मृत्यु के बाद इनका विशाल राज्य, जिसके ये प्राण थे, शीघ्र ही नष्ट होकर धूल में मिल गया। इनके सारे पुत्र एक-एक करके मौत के शिकार बने। केवल एक दिलीपसिंह बच गए थे। जब अंगरेज़ों का साम्राज्य पंजाब में फैल गया तब वे विलायत जा कर ईसाई हो गए। अब तो केवल लाहौर के किले के पास बनी हुई इनकी समाधि पराधीन पंजाबियों को ही नहीं अपितु पराधीन भारतवासियों को उन स्वर्ण-दिनों की बरबस याद दिला देती है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती

आविर्भाव काल

प्रत्येक प्राचीन धर्म में समय-समय पर सुधार की आवश्यकता पड़ती है। लोग धर्म के तत्त्व को भूल कर बाहरी आडंबरों में फँस जाते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में हिन्दू धर्म अन्ध-परंपरा और रूढ़िवाद का शिकार बन गया था। सामाजिक कुरीतियाँ बहुत बढ़ गई थीं। लोग वर्णाश्रम धर्म का असली तत्त्व भूल रहे थे और उसको उन्होंने खान-पान के संकुचित नियमों में जकड़ रक्खा था। इन नियमों के कारण हिन्दू-समाज का क्षेत्र भी संकुचित होता जा रहा था।

सामाजिक अत्याचारों से तंग आकर लोग ईसाई और मुसलमान धर्म को स्वीकार करने लगे थे । उस समय हिन्दू धर्म को ऐसे सुधारकों की आवश्यकता थी जो असली तत्त्व बतलाकर लोगों को विधर्मी होने से बचा सकें । बंगाल में राजा राममोहन राय ने समय के अनुकूल हिन्दू धर्म का संशोधन किया, किन्तु उस संशोधन में हिंदू धर्म के बहुत से असली तत्त्व भी निकल गये । स्वामी दयानन्द ने वेदों की मर्यादा को रखते हुए हिंदू धर्म में से बहुत-सा रूढ़िवाद हटाकर उसको एक ऐसा रूप दिया जो कि पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित भारतवासियों को ग्राह्य हो सकता था ।

जन्म और शिक्षा

स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म सन् १८२४ ई० में गुजरात प्रान्त के अन्तर्गत मोरवी नामक नगर में हुआ था । मूल नक्षत्र में पैदा होने के कारण उनका नाम मूलशंकर रक्खा गया था । उनके पिता अंबाशंकर औदीच्य ब्राह्मण और नामी ज़मीदार थे । पाँच वर्ष की अवस्था होने पर मूलशंकर की शिक्षा का आरंभ हुआ । उस समय की प्रथा के अनुसार उन्होंने रुद्री और शुक्ल यजुर्वेद का अध्ययन आरंभ किया । कुशाग्र बुद्धि होने के कारण १३ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने संस्कृत में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली । उस समय तक वे अमरकोष और संस्कृत की अन्य छोटी पुस्तकों का अध्ययन कर चुके थे ।

विचार-परिवर्तन

बाल्यावस्था में अपने पिता की भाँति उन में भी बड़ी धर्मनिष्ठा थी । उनके पिता कट्टर शैव थे । शिवरात्रि के दिन उन्होंने व्रत रक्खा । पुत्र ने भी हठ-पूर्वक उनका अनुकरण किया । सारा दिन शिव की पूजा की और व्रती रहे । रात्रि के समय शिव-मन्दिर में और सब

लोग तो सो गये परन्तु मूलशंकर को नींद न आई । इसी समय उन्होंने देखा कि एक चुहिया शिवजी की मूर्ति पर उछल-कूद मचाकर पूजा के अक्षत को खाने लगी । उनके मनमें अनेक प्रकार की शंकाएँ उठने लगीं । उन्होंने सोचा कि सर्वशक्तिमान जगदाधार महेश में क्या एक चुहिया को भगाने की भी सामर्थ्य नहीं है? यही घटना उनके धार्मिक सिद्धान्तों में परिवर्तन का कारण हुई ।

बीस वर्ष की अवस्था में मूलशंकर के चाचा का स्वर्गवास हो गया । इस मृत्यु का उनके ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा । वे सोचने लगे, क्या संसार में कोई अमर नहीं हो सकता? उनके हृदय में अनेकों शंकाएँ उठतीं परन्तु उनका समाधान करने वाला कोई नहीं था । इस समय उनमें वैराग्य की कुछ प्रवृत्ति उत्पन्न होगई । थोड़े दिन बाद उनके पिता ने उनको विवाह-संस्कार द्वारा सांसारिक बंधनों में बाँधना चाहा किन्तु उनका मन धार्मिक खोज में लगा था । वे विवाह का प्रस्ताव सुनकर घर से भाग खड़े हुए । उनके पिता तलाश कर बड़े यत्न से उनको घर पर ले आये, किन्तु उपयुक्त समय पाकर वे फिर भाग गये और घूमते-घामते नर्मदा नदी के किनारे पहुँचे । वहीं उन्होंने स्वामी परमानन्द से संन्यास ग्रहण किया । इसी समय से उनका नाम दयानन्द सरस्वती पड़ गया ।

विशेष अध्ययन

संन्यास धारण करने के बाद कभी वे वेद का अध्ययन करते, कभी योग-साधन की कठिन क्रियाएँ सीखते, कभी व्याकरण पढ़ते, परन्तु उनके चित्त को शान्ति नहीं मिलती थी । इस प्रकार वे मथुरा पहुँचे और वहाँ स्वामी विरजानन्द सरस्वती को अपना गुरु बनाया । यद्यपि उनके गुरुदेव भौतिक नेत्रों की ज्योति से हीन थे तथापि उनके हृदय के नेत्र खुले हुए थे । वे प्रज्ञाचक्षु कहलाते थे

और संस्कृत के अद्वितीय पंडित थे। उनके यहाँ स्वामी जी ने ढाई वर्ष तक विविध विषयों का अध्ययन किया। शिक्षा समाप्त होने पर गुरुदेव ने कोई आर्थिक भेंट स्वीकार नहीं की, वरन् गुरु-दक्षिणा-स्वरूप यह वचन लिया कि वे संसार में वैदिक धर्म का प्रचार करेंगे।

प्रचार कार्य

गुरु से विदा लेकर स्वामी जी कुंभ के मेले पर हरद्वार पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपनी 'पाखंड-खंडिनी पताका' गाड़ी और व्याख्यान देकर तीर्थयात्रियों को धर्म का सच्चा स्वरूप बतलाया। वहाँ से उन्होंने समस्त देश का पर्यटन करना आरम्भ किया। स्थान-स्थान पर उन्होंने शास्त्रार्थ और व्याख्यानों द्वारा अन्ध-विश्वास, अज्ञान, अविद्या, दुराचार, पाखंड और कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न किया। वे हरद्वार, आगरा, अजमेर, अहमदाबाद, बंबई, पूना, काशी, कलकत्ता आदि प्रसिद्ध नगरों में गये और सब जगह उन्होंने अपनी प्रखर प्रतिभा का परिचय दिया। स्वामीजी ने सबसे पहले बंबई में आर्य-समाज की स्थापना की। काशी में अनेक विद्वानों से शास्त्रार्थ करके उन्होंने अपनी विद्वत्ता का सिक्का जमा दिया। इस प्रकार सारे देश में उनके वैदिक सिद्धान्तों की दुन्दुभि का नाद सुनाई पड़ने लगा।

उनकी मृत्यु

स्वामीजी बड़े निर्भय थे। समस्त देश में अपने उपदेशामृत की वर्षा कर उन्होंने राजपूताने की ओर दृष्टि फेरी। लोगों ने उन्हें मृत्यु का भय दिखाकर उधर जाने से रोकना चाहा, परन्तु वे डरने वाले नहीं थे। घूमते-घामते स्वामीजी जोधपुर पहुँचे। वहाँ वेश्याओं का अड्डा देखकर उन्होंने उनके विरुद्ध अनेक उपदेश दिये। इस सचाई का परिणाम यह हुआ कि वेश्याओं ने दूध में शीशा मिलवा-

कर रसोइये द्वारा स्वामीजी को पिलवा दिया। उससे स्वामीजी के शरीर में घोर पीड़ा हुई, किन्तु वे बड़ी वीरता और अलौकिक शान्ति के साथ अन्त समय तक उपदेश देते रहे। ३० अक्टूबर सन् १८८३ ई० को ५९ वर्ष की अवस्था में अपनी अक्षय-कीर्ति छोड़कर स्वामीजी ने स्वर्गयात्रा की।

उनके सिद्धान्त

स्वामीजी निराकार ब्रह्म की उपासना पर ज़ोर देते थे। वे मूर्तिपूजा, अवतार, तीर्थ, श्राद्ध और जातीय भेद-भाव के कट्टर विरोधी थे। वर्ण-व्यवस्था को मानते थे, परन्तु जन्म के अनुसार नहीं वरन् कर्म के अनुसार। स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, गो-रक्षा, समुद्र-यात्रा, शुद्धि और अछूतोद्धार के पक्षपाती थे। उन्होंने शारीरिक, सामाजिक और आत्मिक शक्ति के विकास करने का उपदेश दिया। वे बाल-विवाह और वृद्धविवाह के घोर विरोधी थे; सदाचरण और ब्रह्मचर्य के प्रतिपादक थे, स्वराज्य और स्वतंत्रता के पक्के समर्थक थे। वास्तव में वे देश, समाज और राष्ट्र के सच्चे हितैषी थे। स्वामीजी की शिक्षाओं में हम बहुत से वर्तमान राजनीतिक आन्दोलन का पूर्व-रूप पाते हैं। उनका कहना था कि "सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सदैव तत्पर रहो। यदि उनकी भी कोई बात झूठ हो तो उसे न मानो।" इससे उनके हृदय की विशालता और चरित्र की उज्ज्वलता झलकती है। वे शास्त्रों के अनुशीलन पर बड़ा ज़ोर देते थे।

उनका कार्य

स्वामी जी ने हिन्दू समाज में फैली हुई कुरीतियों और अंध-विश्वासों को दूर करने का प्रयत्न किया और इसी के लिए उन्होंने अपने प्राण तक दिए। अपने सिद्धान्तों के प्रचार और समाज-सुधार के कामों

को जारी रखने के लिए उन्होंने जगह जगह आर्य-समाजों की स्थापना की। आजकल आर्य-समाज काफ़ी शक्तिशाली संस्था है। आर्य-समाज की तरफ़ से स्थान-स्थान पर स्थापित गुरुकुल, स्कूल, कालेज, अनाथालय और विधवाश्रम आदि उनकी कीर्ति को बढ़ा रहे हैं।

महात्मा गांधी

जिन महापुरुषों के कारण आज भी गुलाम भारत का नाम संसार में उज्ज्वल हो रहा है उनमें महात्मा गांधी प्रमुख हैं। महात्मा गांधी का पूरा नाम मोहनदास कर्मचन्द गांधी है। इनका जन्म गुजरात प्रांत के पोरबन्दर नामक स्थान में सन् १८६६ ई० में हुआ था। इनके पिता कर्मचन्द जी पहले पोरबंदर और बाद में अन्य रियासतों के दीवान रहे। इनकी माता पुतलीबाई भी बड़ी भक्त थीं। बचपन से ही ये माता, पिता, गुरु आदि में बड़ी भक्ति रखती थीं।

जब अभी ये स्कूल में ही पढ़ते थे और कुल चौदह वर्ष के ही थे, तभी माता-पिता ने इनका विवाह कर दिया था। थोड़े ही दिन बाद इनके पिता का देहान्त हो गया। पिता की मृत्यु के दो वर्ष बाद सन् १८८७ में इन्होंने मैट्रिक परीक्षा पास कर ली। अब इनके बड़े भाई ने इन्हें इंगलैंड जाकर बैरिस्टरी पढ़ने की सलाह दी। स्त्री का गहना बेचकर इन्होंने इंगलैंड जाने की तैयारी की। इंगलैंड जाते समय इनकी माता ने इनसे मांस न खाने तथा शुद्ध आचरण रखने की प्रतिज्ञा करा ली। माता जी के साथ की हुई प्रतिज्ञाओं को इन्होंने पूरी सचाई से निबाहा। बड़ी सादगी और कम खर्च में वहाँ

गुज़ारा करते रहे। तीन वर्ष में कानून का अध्ययन समाप्त कर बैरिस्टरी पास करके सन् १८६१ में ये भारत लौट आये।

पहले पदल ये वकालत में सफल न हुए। अदालत में जाते तो सब कुछ भूल जाते। पैरवी करने खड़े होते तो हाथ पाँव काँपने लगते। निराश होकर ये अपने घर राजकोट लौट आये।

इसी समय गुजरात के किसी प्रसिद्ध व्यापारी का मुकदमा दक्षिणी अफ्रीका में चल रहा था। मुकदमे की पैरवी करने के लिए उस व्यापारी ने इन्हें अफ्रीका भेजा। वहाँ इन्होंने दोनों दलों में समझौता कराकर मुकदमे का काम तो समाप्त कर दिया, पर साथ ही उस काम का श्रीगणेश कर दिया जिससे आगे चलकर इनका इतना नाम हुआ।

उन दिनों दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों पर बड़े अत्याचार होते थे। वे कुली कह कर पुकारे जाते थे। रेल का पहले दर्जे का टिकट खरीदने पर भी उन्हें तीसरे दर्जे में सफर करना पड़ता था। घोड़ा-गाड़ी में वे गोरों के साथ न बैठ सकते थे, उन्हें पायदान के ऊपर बैठना होता था। होटल में वे ठहर नहीं सकते थे; फुट-पाथ पर वे चल न सकते थे। रात को नौ बजे के बाद बिना परवाने के घर से न निकल सकते थे। ज़मीन के मालिक भी वे न बन सकते थे और तीन पौंड का कर दिये बिना वहाँ रह भी न सकते थे। इतने पर भी एक नया कानून पास होने लगा जिसके अनुसार ट्रांसवाल में रहने की इच्छा वाले भारतीय स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध को एक परवाना लेना पड़ता: जिसके लिए उन्हें दोनों हाथों की अँगुलियों और अँगूठे के निशान देने पड़ते, उनके शरीर के चिह्न नोट किये जाते और हमेशा यह परवाना साथ रखना होता। अफ्रीका के रहने वाले भारतीय इन

अत्याचारों से तंग थे पर बेचारे विवश थे। महात्मा गांधी से उन्होंने इन अत्यचारों के विरुद्ध आन्दोलन करने को कहा। महात्माजी ने इस काम को अपने हाथ में लिया। इस के लिए उन्होंने कुछ उठा न रक्खा। कई बार गोरों से मार खाई, पठानों के हाथ से मरते-मरते बचे, सत्याग्रह किया, हज़ारों साथियों के साथ कई बार जेल गये; और भी पर्याप्त कष्ट उठाये पर पीछे नहीं हटे। अन्त में सरकार ने भारतीयों के कष्ट दूर करने का वचन दिया। इस तरह आठ वर्ष का जीवन अफ्रीका में व्यतीत कर वहाँ विजय पाकर ये भारत में वापिस आये।

अफ्रीका से लौट कर इन्होंने भारतीयों को भी स्वतंत्रता पाने के लिए सत्याग्रह करने का पाठ पढ़ाया। देशवासियों को विदेशी सरकार से असहयोग करने, विदेशी वस्तुओं का त्याग करने तथा स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने, विशेष कर हाथ का कता, हाथ का बुना कपड़ा पहनने को कहा। असहयोग आन्दोलन से देश में नवीन जाग्रति फैल गई, लाखों आदमियों ने खद्दर पहनना शुरू कर दिया। हज़ारों भारतीय इनके कहने से सन् १९२१, १९२२, १९३० तथा १९३२ में जेल गये। यरवदा जेल तो इनका घर ही बन गया था। सन् १९३० में यह आन्दोलन इतना बढ़ा कि उस समय के भारत के वायसराय लार्ड अरविन को इन के साथ समझौता करना पड़ा। उस समय जितने कैदी जेलों में थे, सब छोड़ दिये गये। गांधीजी कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में लंडन में गोलमेज़ कान्फ्रेंस में सम्मिलित हुए, जहाँ उस समय यह फैसला हो रहा था कि भारतीयों को अपने देश में कौन कौन से अधिकार दिये जायँ; भारत का शासन-विधान कैसा हो। वहाँ से वापिस आते ही इनको फिर सत्याग्रह प्रारंभ करना पड़ा। इस पर इनको

फिर गिरफ्तार किया गया। गोलमेज़ सभा में महात्माजी ने अछूतों के पृथक् निर्वाचन-अधिकार का घोर विरोध किया था क्योंकि इससे हिन्दू जाति के दो टुकड़े हो जाते थे। परन्तु प्रधानमन्त्री मैकडानल्ड ने उन्हें पृथक् निर्वाचन-अधिकार दे दिया। इसके विरोध में जेल में रहते ही महात्मा जी ने प्रतिज्ञा की कि यदि यह पृथक् निर्वाचन अधिकार नष्ट न कर दिया गया तो मैं २० सितंबर १९३२ से आमरण व्रत कर दूँगा। फलतः इन्होंने उपवास प्रारंभ भी कर दिया। सब जानते थे कि महात्माजी अपनी बात के कितने पक्के हैं, अतः सारे देश में गहरी हलचल मच गई। संसार इनके उपवास से काँप उठा। अन्त में महामना मालवीय जी के सभापतित्व में पूना में एक सभा हुई, जिसमें यह समझौता हुआ कि हरिजनों का पृथक् निर्वाचन-अधिकार हटाकर उन्हें कौंसिल में अधिक स्थान दिये जाँय। तब सातवें दिन इन्होंने अपना उपवास त्यागा। इसके बाद इन्होंने हरिजनों के उद्धार के लिए सारे भारत का दौरा किया।

सन् १९२१ से अखिल भारतीय काँग्रेस की बागडोर इनके हाथ में ही है या यह कहा जा सकता है कि महात्मा जी ही कांग्रेस हैं। यद्यपि बंबई कांग्रेस के समय से महात्माजी स्वयं कांग्रेस के सदस्य नहीं रहे, परन्तु अब तक कांग्रेस का कोई फैसला इन की सम्मति के बिना नहीं होता। जब से कांग्रेस ने विभिन्न प्रान्तों में मंत्री-मंडल बनाये हैं तब से सबकी नज़र सेवागाँव—जहाँ महात्माजी आजकल रहते हैं—की ओर ही रहती है।

असहयोग-आंदोलन, खद्दर-प्रचार और हरिजन-उद्धार के अतिरिक्त इन्होंने सारे भारत में राष्ट्र-भाषा हिन्दी के प्रचार का कार्य भी प्रारंभ करवाया। सुदूर दक्षिण तक हिन्दी का प्रचार इनके ही प्रयत्नों का फल है।

इन सब महान् कार्यों में ये इसी कारण सफल हुए हैं और देश इनके कथन को जादू की तरह इसीलिये मानता है, कि इन के जीवन का मूल मन्त्र सत्य और अहिंसा है । ये सत्य की साक्षात् मूर्ति और अहिंसा के अवतार हैं । सत्य को ये ईश्वर समझते हैं। मन, वाणी और कर्म से ये अहिंसा के पुजारी हैं। यहाँ तक कि जो इनको दुःख देते हैं उनको भी ये दुःख नहीं देना चाहते। अफ्रीका में कई बार गोरों ने इनका अपमान किया, इनको मारा-पीटा। सरकार उन गोरों पर मुकदमा चलाना चाहती थी, पर इन्होंने न माना और उन्हें छुड़ा दिया। जब कभी इनके साथियों ने बुरा काम किया, तब इन्होंने उनको कुछ नहीं कहा, पर स्वयं उपवास करके प्रायश्चित्त किया। पतित से पतित की भी सेवा करना ये अपना सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य समझते हैं। हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, अछूत सबको ये समान समझते हैं। गरीब भारतीयों को कपड़े पहनने को नहीं मिलते, इसलिए ये भी केवल एक कपड़ा पहन कर रहते हैं। इनकी इस महान आत्मा के कारण भारतीय इन्हें अवतार या अपना रक्षक समझते हैं। हिन्दू इनके जितने भक्त हैं खूँखार पठान भी इनकी उतनी ही इज्ज़त करते हैं । अनेक विदेशी भी इनके मित्र और शिष्य हैं । भारत का शायद ही कोई ऐसा गाँव होगा जहाँ गांधी-बाबा का नाम न पहुँचा हो, या जो एक बार 'महात्मा गांधी की जय' के नारों से गूँज न उठा हो।

परमात्मा भारत का मुख उज्ज्वल करने वाले महात्मा को दीर्घजीवी करे।

शिमला की यात्रा

बालकों को पढ़ाया जाता है—भारत की राजधानी देहली है। यह बात सोलहों आने ठीक नहीं है। क्योंकि साल में लगभग सात महीने देहली उजाड़ हो जाती है। अप्रैल से अक्टूबर तक भारत की राजधानी कहलाने का सौभाग्य शिमला को मिलता है। हज़ारों व्यक्ति उन दिनों देहली की गरमी से घबरा कर शिमला में शैल-शिखर पर चले जाते हैं। इनमें भारत-सरकार और पंजाब-सरकार के कर्मचारी प्रमुख हैं। इस तरह शिमला भारत की राजधानी होने के साथ-साथ पंजाब की राजधानी भी है।

शिमला आने के लिए पहला पड़ाव अंबाला है। देहली से, लाहौर से, कलकत्ता से, कहीं से चलिए, अंबाला पहुँचना ही होगा। अगला पड़ाव कालका है। अंबाला से कालका लगभग ३२ मील है। रेल या मोटर बस दोनों हर समय तैयार मिलती हैं। शिमला-यात्रा में कालका का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहीं से असली पहाड़ी यात्रा आरंभ होती है। रेल में जायँ तो यहाँ गाड़ी बदलनी होगी। यहाँ से शिमला जाने वाली छोटी लाइन शुरू होती है। कालका से शिमला तीन प्रकार से जाया जाता है। रेल से, मोटर से, या पैदल। अधिक संख्या रेल से जाने वालों की होती है। गाड़ी के डब्बे छोटे-छोटे होते हैं। बहुत हलके से बिस्तर और खाने-पीने के सामान के सिवाय और कोई सामान साथ नहीं जा सकता। सब 'ब्रेक' में रखना होता है। गाड़ी पहाड़ों पर चक्कर काटती हुई धीरे-धीरे ऊपर चढ़ती है। एक-आध जगह तो ऐसा चक्करदार रास्ता है कि यदि आधे-आधे घंटे बाद तीन गाड़ियाँ कालका से रवाना हों तो उस जगह पहुँच कर तीनों गाड़ियाँ ठीक

एक दूसरी के ऊपर नीचे दीखेंगी। पहली गाड़ी के आदमी अपने ठीक नीचे चलती हुई एक और गाड़ी को देख सकेंगे और दूसरी के तीसरी को, पर तीनों गाड़ियों में मीलों का अंतर होगा।

रास्ते में सुरंगें भी हैं। इनकी संख्या लगभग १०० है। ये सुरंगें पहाड़ काट कर बनाई गई हैं। जब गाड़ी सुरंगों में पहुँचती है, तो एकदम अँधेरा हो जाता है। उस समय लैंप जला दिए जाते हैं। इन सुरंगों में से बड़ोग की सुरंग सबसे बड़ी है। बड़ोग की सुरंग पार करते ही बड़ोग का स्टेशन आता है। यहीं ऊपर और नीचे जाने वाली गाड़ियाँ एक दूसरी को पार करती हैं। यहाँ स्टेशन पर एक होटल है, जिसमें सब प्रकार का खाना मिलता है। गाड़ी यहाँ काफ़ी देर ठहरती है, और यात्री लोग यहीं भोजन करते हैं। यह लगभग आधे रास्ते पर है। कालका से शिमला की दूरी रेल के रास्ते से ६० मील है, परन्तु यदि कोई हवाई जहाज़ कालका से शिमला को जाए तो उसे केवल १५ मील ही चलना होगा, बाक़ी ४५ मील पहाड़ों के इर्द-गिर्द चक्कर काटने में लग जाते हैं।

कालका से शिमला तक कुल २० स्टेशन हैं जिनमें धरमपुर, बड़ोग, सोलन और कंडाघाट अधिक प्रसिद्ध हैं।

रेल का रास्ता बड़ा चक्करदार है। रेल में सफ़र करने से कई लोगों का सिर चकराने लगता है। कई लोग रेल के समय की प्रतीक्षा भी नहीं कर सकते। वे मोटरों में जाते हैं। मोटर का रास्ता रेल से लंबा है। उसमें चक्कर रेल से कम पड़ते हैं। इतने पर भी मोटर में रेल से कम समय लगता है और किराया भी कम लगता है। इन दोनों के अतिरिक्त रेल-मोटर भी चलती है। यह रेलवे लाइन पर चलने वाली मोटर होती है, पर इसका किराया फर्स्ट-क्लास से भी अधिक होता है।

रेल और मोटर दोनों में ही गरमियों में शिमला जाने का किराया अधिक होता है और कालका आने का थोड़ा। इसी तरह सर्दियों में कालका आने का किराया अधिक होता है और शिमला जाने का थोड़ा।

रेल और मोटर के होते हुए भी शिमला की यात्रा का मज़ा पैदल जाने में ही है। इस आनन्द का उपयोग वे ही कर सकते हैं जिनके पास काफी समय हो। भारत सरकार की तरह फौजी लोग भी गरमियों में पहाड़ों पर चले जाते हैं। शिमला के पहाड़ जहाँ-तहाँ फौजी छावनियों से भरे पड़े हैं। पैदल जाने के रास्ते प्रायः इहीं छावनियों के आसपास से होकर गुज़रते हैं। काबुल की ओर पैदल जाइए तो अफगान और बलोच बंदूक ताने आपकी जान और माल के प्यासे खड़े मिलेंगे। हिमालय की तराई में पैदल-यात्रा कीजिए तो हिंस्र जंतुओं का डर निरंतर बना रहेगा। पर शिमला की यात्रा ऐसी यात्रा है, जहाँ न आपको मनुष्य से डर है न पशु से। पहाड़ी बहुत सीधे, सच्चे और ईमानदार होते हैं। वे किसी की जान और माल के शत्रु नहीं; झूठ नहीं बोलते, चोरी नहीं करते; किसी यात्री को ठगते नहीं। इसके विपरीत बहुत अतिथि-सत्कार करने वाले होते है। किसी गाँव में पहुँच जाइए, धर्मशाला या किसी ठहरने की जगह का पता पूछने पर जिससे पूछेंगे उसी का घर आपका विश्राम-स्थान होगा। वही दूध और रूखी-सूखी रोटी से प्रेम से आपका स्वागत करेगा, बशर्ते कि आप भी उनकी गरीबी पर उनसे नफ़रत न करें—उन्हें अपना भाई समझें—उन्हें अपनाना चाहें।

प्राकृतिक दृश्य ऐसे सुन्दर हैं, कि जिन्होंने पहाड़ों की पैदल यात्रा की है, उनका कहना है कि शिमला के मार्ग में काश्मीर के

मार्ग से भी अधिक सुन्दर दृश्य हैं। असल में यह रास्ता प्रकृति ने पैदल यात्रा के लिए ही बनाया है।

कालका से चलकर पहला पड़ाव कसौली है। ६ मील की चढ़ाई है, कालका से सुबह चलकर दोपहर तक कसौली पहुँच जाते हैं। कसौली में छावनी और कुत्तों से कटे हुए मनुष्यों के इलाज करने का हस्पताल है। कसौली से एक रास्ता गढ़खल होकर धरमपुर जाता है और एक सबाठू। कसौली से सबाठू के मार्ग में गहरी उतराई और चढ़ाई है। शिमला के पहाड़ों पर तपेदिक के बहुत से रोगी स्वास्थ्य सुधारने के लिए जाते हैं। उन लोगों के लिए जगह जगह स्वास्थ्य-शालाएँ (Sanitoriam) बनीं हुई हैं। धरमपुर और सोलन का इलाका ऐसे रोगियों के लिए बहुत अच्छा समझा जाता है। अकेले धरमपुर में चार पाँच सैनिटोरियम हैं।

धरमपुर से एक रास्ता सबाठू जाता है। यह रास्ता प्रायः समतल है। इस रास्ते पर टाँगे चलते हैं। सबाठू में छावनी है। यहाँ से दो तीन पड़ाव करके जतोघ होकर शिमला जाने का रास्ता है।

धरमपुर से डगशई दो मील है, पर खड़ी चढ़ाई है। डगशई से कुमारहट्टी और बड़ोग होकर सोलन पहुँचते हैं। सोलन बघाट स्टेट की राजधानी है। यहाँ भी सैनिटोरियम हैं। यहाँ का बाज़ार अच्छा है। शिमला के पहाड़ों में कई रियासतें हैं, पर ज्यादा भाग पटियाला स्टेट में है। सोलन से कंडाघाट को रास्ता जाता है और कंडाघाट से चैल को। चैल महाराजा पटियाला की गरमी की राजधानी है। बिना महाराजा की आज्ञा के रियासत के बाहर का कोई व्यक्ति चैल नहीं जा सकता। कंडाघाट से चलकर तारादेवी हो कर शिमला पहुँचते हैं। तारादेवी में पहाड़ पर तारादेवी का मंदिर है। इसके अतिरिक्त एक बहुत सुन्दर तालाब है,

जिसमें तैरने के लिए लोग शिमला से आते हैं। शिमला से तारा देवी ७ मील है, पर रास्ता उतराई का है। शिमला से चलकर एक घंटे में तारादेवी पहुँचते हैं, लौटने में चाहे दो घंटे लगें। शिमला से कुल्लू जाने का भी बड़ा सुंदर रास्ता है।

अक्टूबर के महीने में दुर्गा-पूजा की छुट्टियों में बड़े भाई साहब और मैंने शिमला यात्रा की ठानी। रेल और मोटर को छोड़ हमने पैदल यात्रा का ही आनंद लेना चाहा और कसौली, धरमपुर, डगशई, कुमारहट्टी, सोलन होते हुए शिमला पहुँचे। रास्ते के पड़ावों में हम प्रायः पहाड़ियों का ही आतिथ्य स्वीकार करते रहे। कालका से शिमला तक पहुँचने में हमें आठ दस दिन लग गये थे, पर कुछ आनों के सिवाय हमारा कुछ खर्च न हुआ।

शिमला शहर के अंदर मोटर या टाँगें नहीं चलते। कहीं-कहीं रिक्शा और घोड़े बेशक दिखाई देते हैं। शिमला में दो बाज़ार हैं, ऊपर वाले को 'माल' और नीचे वाले को 'लोअर बाज़ार' कहते हैं। 'माल' की दुकानें खूब सजी धजी हैं। इन दुकानों से यूरोपियन और धनी हिन्दुस्तानी सौदा खरीदते हैं। लोअर बाज़ार में सब तरह की दुकानें हैं। इसी बाज़ार में आर्यसमाज का मंदिर भी है। शिमला पार कर के मालरोड रामपुर बशहर होती हुई तिब्बत चली जाती है, वहाँ से इसका नाम तिब्बत हिमालयन रोड पड़ता है। इसके अतिरिक्त शिमला में देखने के और भी कई स्थान हैं जिनमें सँजौली, छोटा शिमला, मशोभरा और जाखू प्रमुख हैं। शिमला में 'काली बाड़ी' और फुटबाल खेलने का मैदान भी है। हर साल भारत भर की टीमें ड्यूरेंड टूर्नामेंट में मैच खेलने शिमला जाती हैं।

जाखू पहाड़ पर हनुमान जी का मंदिर है। इसकी चोटी पर बंदर

भी नज़र आते हैं। इस चोटी के चारों ओर के चक्कर को जाखूरा डंड कहते हैं। शाम सवेरे यहाँ सैर करने वालों की काफ़ी भीड़ रहती है।

शिमला जाने वालों में भारत और पंजाब सरकार के सिविल और फ़ौजी अफ़सरों के अतिरिक्त पंजाब और केन्द्रीय असैंबली के सदस्य और बहुत से दुकानदार होते हैं। पंजाब सरकार और भारत सरकार के दफ्तर और असैंबली हाल तथा मेंबरों के क्वार्टर आदि अलग-अलग पहाड़ियों पर बने हुए हैं। कई अच्छे अच्छे होटल भी हैं। इसके अतिरिक्त शिमला में एक कस्टम्स हाऊस भी है। तिब्बत और शिमला से ऊपर की पहाड़ियों से अफ़ीम चरस आदि मादकद्रव्य यहीं आकर इकट्ठे होते हैं। पहाड़ी लोग भेड़ बकरियों पर अपना सामान लाद कर लाते हैं। एक-एक भेड़ बकरी पर दो-दो चार-चार सेर बोझ होता है। अफीम, चरस आदि नशे की चीज़ें और जलाने की थोड़ी बहुत लकड़ियाँ ही उनका सामान होता है। शिमला आकर उनकी यात्रा समाप्त हो जाती है, और यहीं वे भेड़-बकरियों को मूँड कर ऊन भी बेच देते हैं। दुबारा लौट कर आने तक भेड़ बकरियाँ फिर मुँडने लायक हो जाती हैं। कई-कई हज़ार भेड़-बकरियों का इकट्ठा चलना बहुत भला मालूम होता है। शिमला की दूसरी उपज आलू है। आलू की यहाँ बहुत बड़ी मंडी है। शिमला से आलू बाहर भेजा जाता है। शिमला का एक और दृश्य कुलियों के बोझा ढोने का होता है। पाँच-पाँच सात-सात पहाड़ी मिलकर एक बड़ी पेटी को पीठ पर रस्सों से बाँध कर चलते हैं और जगह-जगह इकट्ठे विश्राम भी लेते हैं। विश्राम लेते समय बोझ उनकी पीठ के साथ बँधा रहता है, परन्तु किसी पत्थर पर सहारा देकर बोझ उस पर डाल दिया जाता है।

शिमला की ऊँचाई समुद्रतट से लगभग ६८०० फीट है। जाखू ७००० फीट से भी अधिक ऊँचा है। पहाड़ चीड़ और देवदार के वृक्षों से लदे होते हैं।

शिमला में वर्षा बहुत होती है, इस लिए वाटर-प्रूफ या छतरी की हमेशा आवश्यकता रहती है।

इस तरह १२ दिन के लगभग शिमला में गुज़ार, वहाँ के प्राकृतिक दृश्यों का आनंद ले, हम जतोघ, सबाटू और धरमपुर होकर पैदल ही लौटे। रेल की सवारी किये बिना शिमला-यात्रा का पूरा अनुभव न होता, इसलिए जावली से कालका तक हम रेल में आए। यात्रा की चिरस्मरणीय चीज़ों में जावली स्टेशन के पेड़ों का स्वाद भी है।

नौका-यात्रा

एक बार शरद ऋतु में मुझे मथुरा जाने का अवसर मिला। साथ में सहपाठियों की एक बड़ी टोली भी थी। मथुरा के दर्शनीय स्थान देख वृन्दावन जाने का निश्चय हुआ क्योंकि वृन्दावन धाम देखे बिना हमारी व्रज-यात्रा अपूर्ण रहती। वृन्दावन जाने के कई साधन हैं। कोई रेल से जाते हैं, कोई इक्के ताँगों का सहारा लेते हैं, और कोई पैदल चलकर तीर्थयात्रा का पूरा पुण्य लाभ करते हैं। कुछ मनचले लोग नौका से भी जाते हैं। हम लोग नौका से ही भ्रमण करना चाहते थे। माँझी से पूछा कि नाव वृन्दावन जा सकती है या नहीं? माँझी ने कहा—'हाँ'। उसके 'हाँ' कहते ही, बात की बात में, नौका से ही वृन्दावन जाने का प्रस्ताव छिड़ गया। वृन्दावन मथुरा से ऊपर की ओर है। बहाव के प्रतिकूल

नौका को ले जाना हँसी-खेल नहीं है, किन्तु विद्यार्थी जीवन के अदम्य उत्साह में भय और कठिनाई को स्थान नहीं मिलता। दो एक विद्यार्थी जो तैरने की कला से नितान्त अपरिचित थे, इस प्रस्ताव का विरोध करने लगे। उनकी शंकाएँ निर्मूल बतला दी गईं। उन्होंने भी भीरु कहलाए जाने के भय से प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। बहुमत से पास किये हुए प्रस्ताव को उलट देने की भला किस की हिम्मत थी! प्रस्ताव पास हुआ और मल्लाह को वृन्दावन की ओर चलने की आज्ञा दी गई। वह नाव को किनारे के निकट लाया। उसके दो साथी और आगए। बहाव के प्रतिकूल नाव को खेकर ले जाना कठिन कार्य है। इसलिए नाव में रस्सी बाँधी गई। दो नाविक उन रस्सियों को लेकर किनारे पर चलने लगे। इस प्रकार नाव ऊपर की ओर जाने लगी। उस वर्ष वर्षा अधिक हुई थी। आश्विन मास में भी जमुना जी खूब चढ़ी हुई थीं। वायु शीतल थी किन्तु उसे मंद नहीं कह सकते थे। तरणि-तनूजा के विशाल और पुण्य वक्षःस्थल पर लहरें उठती और गिरती थीं। उन में एक विशेष गति और चाल थी, किन्तु कभी-कभी वायु की तीव्रता के कारण वह मधुर लास्य (कोमल नृत्य) भी भीषण तांडव में परिणत हो जाता था। रस्सी से बँधी हुई नावें भी इधर-उधर चक्कर खाने लगती थीं। हमारे जल-भीरु भाई भय से काँप रहे थे। वे सोच रहे थे कि किस आफत में फँस गये, अब की बार प्राण बच गये तो फिर ऐसी भूल न करेंगे। वे नौका-यात्रा का आनन्द न ले सके। हम को तो नदी का कल-कल छल-छल शब्द बड़ा सुन्दर मालूम होता था। किनारे की मिट्टी टूट-टूट कर गिरती थी। पतवारों की छप-छप और उनसे उठे हुए जल के छींटे शरीर में शीतलता और मन में प्रसन्नता उत्पन्न कर रहे थे। इसी प्रकार नाव

को खेते-खेते हम लोग वृन्दावन धाम पहुँच गये। वहाँ पर गुसाईं जी का मन्दिर तथा अन्य सुन्दर सुरम्य स्थान देखे। घूमते-फिरते सायंकाल हो गया। चन्द्र-देव अपनी सुधामयी रश्मियों द्वारा धरातल को ज्योत्स्ना में निमग्न कर रहे थे। हम लोग किनारे आकर नाव पर बैठ गये। नाविकों ने प्रसन्नता से नाव खोल दी। जो कुछ कठिनाई थी वह तो आते समय थी। बहाव के साथ नाव बहने लगी। पतवार का व्यवहार तो करना पड़ता था किन्तु बहुत कम। नौका जल के वेग के साथ चल रही थी। किनारे के वृक्ष चलते हुए प्रतीत होरहे थे। शरद्-यामिनी की शुभ्र ज्योत्स्ना ने जल को रजतमय बना दिया था। सभी बातें अनुकूल थीं। भोजन भी साथ था। नाव पर सबने भोजन किया। उसके पश्चात् गायन की ठहरी। रात्रि की निस्तब्धता में गान बहुत ही मधुर और प्रिय मालूम होते थे। हमारे भीरु भाई भी समय की मादकता में अपनी भीरुता भूल गये। यमुना के जल में नृत्य करते चन्द्रमा के चंचल प्रतिबिंब को देख कर हम सब लोग आनन्द-विभोर हो उन दिनों की कल्पना करने लगे जब श्रीकृष्ण भगवान ने यमुना कूल पर रास रचा होगा। नंददास जी की 'रास-पंचाध्यायी' के कुछ गीत गाते-गाते हम मथुरा पहुँच गये।

कुछ विवरणात्मक निबंधों के खाके

आदर्शरमणी सीता

मिथिला-नरेश महाराज जनक की पुत्री। गुणवती और बहुत सुंदरी। विवाह के लिए स्वयंवर का आयोजन। जनक की प्रतिज्ञा, जो शिव-धनुष तोड़ेगा, उससे सीता का विवाह। अनेक राजाओं की असमर्थता। अंत में अयोध्या-नरेश दशरथ के पुत्र रामचन्द्र द्वारा धनुष-भंग। विवाह। रामचन्द्र को युवराज-पद के स्थान पर वनवास। सीता का साथ ही वन जाने का हठ। रामचन्द्र जी का समझाना, पतिव्रता सीताजी का कथन—

"प्राणनाथ करुणायतन सुंदर सुखद सुजान,
तुम्ह बिनु रघुकुल-कुमुद-बिधु, सुरपुर नरक समान।"

विवश हो रामचन्द्र का स्वीकृति देना। तापस वेश धर वन को प्रयाण। चित्रकूट पर पर्णकुटी बनाकर रहना। फिर गोदावरी के तट पर पंचवटी में वन-जीवन बिताना। शूर्पणखा का आना, उसके साथ ही आपत्तियों का भी। रावण द्वारा सीता का अपहरण। सीता जी का विलाप। अशोक वाटिका में राक्षसियों के बीच में सीता। राम-सुग्रीव मित्रता। सुग्रीव के दूत हनुमान द्वारा लंका में पहुँच सीताजी की खोज। हनुमान-सीता भेंट। रामचंद्र जी की सीता के उद्धार के लिए लंका पर चढ़ाई। भीषण युद्ध। रावण की मृत्यु। परगृह में रहने के कारण सीता की अग्नि-परीक्षा। सीता समेत रामचंद्र जी का अयोध्या लौटना। दुर्मुख द्वारा सीताजी के प्रति जनापवाद का रामचंद्रजी को पता लगना। प्रजा-रंजक रामचन्द्र

द्वारा गर्भवती सीता का घोर जंगल में त्याग। वाल्मीकि के आश्रम में निवास। लव-कुश की उत्पत्ति। रामचंद्र का अश्वमेध। गुरु के कहने पर भी रामचंद्र का यज्ञ के लिए पुनर्विवाह न करना, सीता की स्वर्ण मूर्त्ति बना यज्ञ संपन्न करना, इस प्रकार सीता के प्रति वास्तविक अनुराग का व्यक्त करना। वाल्मीकि का राम से सीता को अपनाने का अनुरोध। पति की आज्ञा से सीता का भरी सभा में अपनी निर्दोषिता प्रमाणित करना, और पृथ्वी में समा जाना। आजीवन दुःख ही दुःख, फिर भी सत्य-पथ से विचलित न होना, पति के प्रति सदा एक-सी श्रद्धा। भारतीय नारी का आदर्श।

अशोक

प्रतापी चंद्रगुप्त मौर्य का पौत्र, और सम्राट् बिंदुसार का पुत्र। राज्याभिषेक से पहले ही तक्षशिला और उज्जैन का विद्रोह दमन करना। पिता की मृत्यु के अनन्तर लगभग २७२ ई० पू० में राज्यारोहण। युवावस्था में बड़ा निर्दय, ऐसी अनेक कथाएँ। कलिंग पर आक्रमण। भयंकर जन-संहार के बाद विजय। प्रायः सारे भारत का एक-छत्र सम्राट। अफ़गानिस्तान का प्रान्त भी उसके साम्राज्य में सम्मिलित। कलिंग के भयंकर जननाश से मानसिक अशांति और पश्चात्ताप। जीवन में भयंकर परिवर्त्तन। बौद्धधर्म स्वीकार करना और युद्ध का सर्वथा त्याग। क्षात्र विजय के स्थान पर धर्म विजय। धर्म विजय की अनेक योजनाएँ। चीन, जापान, लंका आदि में बौद्ध धर्म का प्रचार; अपने पुत्र और पुत्री को भी धर्म प्रचारार्थ भेजना। प्रजा-कल्याण के अनेक कार्य। अशोक के शिलालेख; अभी तक छोटे बड़े कुल ३१ मिले हैं; जो साम्राज्य के प्रत्येक कोने—शहबाज़गढ़ी, कालसी, गिरनार, मैसूर— में हैं। मानसहरे का शिलालेख दो बड़ी

चौड़ी शिलाओं पर। बौद्ध साहित्य में प्रियदर्शी। खैबर घाटी में अशोक की बनाई दीवार, काफिर कोट।

शासन सुदृढ़, पर दयापूर्ण। दिन प्रति दिन अत्यधिक दान। खूब शिक्षा-प्रचार।

महान चरित्र। अशोक जैसे प्रतापी और त्यागी सम्राट् बहुत कम। सिकंदर आदि ने केवल प्रदेश जीते, अशोक ने हृदय।

गुरु गोविंदसिंह

सिक्खों के दशम गुरु। नवें गुरु तेगबहादुर के पुत्र। औरंगज़ेब द्वारा गुरु तेगबहादुर का वध। उनके बाद गुरुओं की गद्दी पर बैठना। धार्मिक सिक्खों को सैनिक योद्धा बना दिया। पाँच प्यारों (शिष्यों) का बलिदान। खालसा सेना। प्रत्येक सिक्ख के नाम के साथ सिंह। प्रत्येक वीर सिक्ख के लिए पाँच ककार—केश, कंघा, कृपाण, कच्छा और कड़ा—रखना आवश्यक। औरंगज़ेब का गुरु के निवास स्थान आनंदपुर को घेर लेना। गुरु के दो पुत्रों—अजीतसिंह और जुझारसिंह की वीरता से लड़ते हुए मृत्यु। दो और छोटे पुत्रों का सरहिंद के पास जीता दीवार में चुना जाना, पर धर्म न त्यागना। इस पर गुरु गोविंदसिंह का कथन—

इस भारत के सीस पै चारों दीने वार,
चार मुए तो क्या भया, जीवित कई हज़ार।

औरंगज़ेब का सिक्खों को तुच्छ समझना; इस पर गुरु का कथन—

सवा लाख से एक लड़ाऊँ
तब गोविंदसिंह नाम धराऊँ
चिड़ियों से मैं बाज मरवाऊँ
तब गोविंदसिंह नाम धराऊँ।

मुक्तसर में आनन्दपुर का बदला। औरंगज़ेब के बाद उसके बेटे बहादुरशाह का गुरुजी से संधि करना। उसका एक पठान को सिखा पढ़ाकर गुरु की हत्या को भेजना। पठान का कई वर्ष गुरुजी के साथ रहना। अन्त में एक दिन विश्वासघात कर गुरु के पेट में कटार मारना। गुरु का बच जाना और कटार के घाव का धीरे धीरे अच्छा होना। पर एक दिन भारी धनुष पर तीर चढ़ाते हुए घाव का फिर फट जाना। उससे देहावसान।

गुरु गोविंदसिंह बड़े विद्वान और साहसी। उनके दरबार में पंडितों का जम घट। स्वयं अच्छे कवि, उनका विचित्र-नाटक और चंडी-चरित्र वीर-रस की उत्कृष्ट रचनाएँ।

रवीन्द्र नाथ ठाकुर

जन्म ६ मई सन् १८६१ को कलकत्ते में। पिता महर्षि देवेन्द्र-नाथ अच्छे संपन्न और शान्ति, दया, क्षमा, परोपकार आदि गुणों के लिए प्रसिद्ध। बचपन में ही माता का देहान्त; अतः स्वामी-भक्त नौकरों द्वारा पालन। इससे एकान्त-प्रिय।

पाठशाला में शिक्षा बहुत कम। घर में ही अधिकतर शिक्षा। बचपन से ही कविता, संगीत आदि की ओर अभिरुचि।

सत्रह वर्ष की अवस्था में विलायत यात्रा। तेईस वर्ष की अवस्था में विवाह। पैंतीस वर्ष की अवस्था में पत्नी का देहान्त। कुछ महीने बाद मँझली कन्या का देहान्त। इससे संसार से विरक्त-सा हो जाना।

१८ वर्ष की अवस्था में कविता लिखना प्रारंभ किया। प्रारम्भिक पुस्तकें सांध्यसंगीत, सोनारतरी, शिशु। प्रसिद्ध

पुस्तक गीतांजलि; जिसका १९१२ में अंगरेज़ी में अनुवाद हुआ १९१३ में नोबेल पुरस्कार मिला। इससे विश्व भर में ख्याति। कविता शक्ति के कारण संसार भर में घूम आये। भारत का संदेश दूर दूर तक फैलाया।

कलकत्ते से कुछ दूर बोलपुर में विश्वभारती शान्तिनिकेतन की स्थापना। इसकी उन्नति में रवीन्द्र ने तन, मन, धन सब लगा दिया। यहाँ पर केवल भारत के ही नहीं अपितु बड़े बड़े विदेशी विद्वान भी अध्यापक हैं। उन देशों के विद्यार्थी भी हैं। नवीन पाठ्य-प्रणाली, जीवन सादा। विद्यार्थी सर्वथा स्वतंत्र।

भारत सरकार द्वारा "सर" की उपाधि; पर जलियाँवाला गोली कांड पर उसका परित्याग। इस समय ८० वर्ष की अवस्था, पर चेहरे पर शांति। भारतीय संस्कृति की जीवित मूर्त्ति। विदेशों में इनके कारण भारत का नाम उज्ज्वल।

पं० जवाहरलाल नेहरू

स्वर्गीय त्यागमूर्ति पं० मोतीलाल नेहरू तथा माता स्वरूपरानी के एकमात्र पुत्र। काश्मीरी पंडित। जन्म १४ नवंबर सन् १८८९ को, प्रयाग में। बचपन बहुत ही ऐश आराम में, राजकुमारों की तरह। अँगरेज़ी धाय, अँगरेज़ शिक्षक। १५ वर्ष की अवस्था में शिक्षा के लिए विलायत। वहाँ हॅरो और कैंब्रिज में शिक्षा। बैरिस्टरी पास कर भारत वापिस आना। १९१६ में कमला जी के साथ विवाह।

बचपन में राजनीति में दिलचस्पी। १९१९ में रौलट ऐक्ट से देश में जाग्रति। इसी समय पंजाब में मार्शलला। पिता पुत्र का राजनीति में सम्मिलित होना। जाँच कमेटी का बहुत सा काम जवाहर

के हाथ में। असहयोग आंदोलन। राजसी जीवन का परित्याग कर स्वेच्छा से गरीबी। गाँव-गाँव में भ्रमण। किसान आंदोलन के प्राण। १६२१ के बाद पिता पुत्र अनेक बार जेल में। अनेक वर्ष अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के जनरल सैक्रेटरी। १६२८ में पं० मोतीलाल राष्ट्रपति। १६२६ में पिता ने राष्ट्र की बागडोर पुत्र के हाथ में दी। जवाहरलाल राष्ट्रपति। पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा और रावीतट पर प्रण। सविनय आज्ञा-भंग फिर प्रारंभ। सारा नेहरू परिवार फिर आंदोलन में। बीमार कमला भी जेल में।

त्यागमूर्ति मोतीलाल का देहान्त। दिल्ली समझौता। महात्मा-गांधी की विलायत यात्रा, पर उनके लौटने से पहले ही गिरफ्तारियाँ प्रारंभ। जवाहर फिर दो साल के लिए जेल में। वृद्धा माता सरूप-रानी पर पुलिस द्वारा प्रहार। जेल से छूटने पर बहन कृष्णा का अंतर्जातीय विवाह। पाँच महीने बाहर रहकर फिर जेल में। बीमार कमला को देखने के लिए ११ दिन की आरज़ी रिहाई। फिर जेल में। कभी जेल के बाहर, कभी जेल में; जीवन एक खिलौना सा। कमला की बीमारी के कारण फिर रिहा। कमला के पास हवाई जहाज द्वारा यूरोप में पहुँचना। कमला की मृत्यु। यूरोप से वापिस आते ही फिर राष्ट्रपति। अनथक परिश्रम। दूसरे साल भी फिर राष्ट्रपति पद पर रहना। यूरोप में अंतराष्ट्रीय परिस्थिति जानने को भ्रमण। देश के स्वतंत्रता-संग्राम में सारे नेहरू परिवार का स्थान। वीर जवाहर युवकों का हृदय सम्राट्। बहन विजयलक्ष्मी पंडित कांग्रेस सरकार की पहली महिला मंत्री। जेल से पुत्री इन्दिरा को लिखी चिट्ठियाँ 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' और 'विश्व-इतिहास की झलक' के नाम से प्रकाशित।

काश्मीर-यात्रा

लाहौर की भीषण गर्मी से तंग आकर काश्मीर के लिए प्रस्थान। जम्मू तक रेल पर। वहाँ से लारी पर। रात बनिहाल में। रास्ते में कभी एकदम चढ़ाई, कभी उतराई। पीर पंचाल की ऊँची चोटियों के बाद एकदम उतराई। रास्ते से एक ओर थोड़ा मुड़ कर वेरीनाग, जहाँ से जेहलम निकलती है। जहाँगीर उस स्वच्छ जल को बहिश्त का चश्मा कहता था। दो घंटे ठहर कर श्रीनगर। डाकखाने के पास हाऊस बोट में ठहरे। दो दिन आराम कर शिकारा लेकर इतवार को शालामार और निशात बाग। वहाँ से टाँगा लेकर हरवन। वापिस आते हुए चश्माशाही। दूसरे दिन शंकराचार्य।

चार दिन बाद गुलमर्ग रवाना। टनमर्ग तक मोटर पर, वहाँ से पैदल। गुलमर्ग स्वास्थ्य-कर स्थान। गोल्फ के लंबे चौड़े ग्राउंड। उससे दो ढाई हज़ार फीट ऊपर खिलनमर्ग। उससे आगे लगभग ३००० फीट की सीधी चढ़ाई चढ़कर पहाड़ के दूसरी ओर अल पत्थर या अमरवट। बिलकुल शान्त। पशु-पक्षी, पेड़-पत्ता कुछ नहीं। केवल एक बर्फ से ढका तालाब। गुलमर्ग से वापसी में फिरोज़पुर नाला।

उसके बाद डूँगा लेकर झीलों की सैर। पहले खीरभवानी, काश्मीरियों की सबसे बड़ी देवी। बड़ा मेला लगता है। वहाँ डूँगा रोक कर गान्धरबल। फिर घोड़ों पर दूर तक लद्दाख रोड पर। दूसरे दिन खीरभवानी से डूँगा लेकर मानसबल। तीन ओर पहाड़ से घिरी स्वच्छ जल वाली झील। वहाँ से मोटर द्वारा वुल्लर झील।

डूँगे द्वारा फिर श्रीनगर वापिस। कुछ दिन श्रीनगर ठहर कर फिर पहलगाँव की ओर। रास्ते में अनंतनाग में गंधक का चश्मा, फिर मार्तंड का मंदिर, शाम को पहलगाँव। चारों ओर पहाड़ों से घिरी ७००० फीट ऊँची तिकोनी घाटी। अनेक यात्री तंबू लगाकर ठहरे हुए। वहाँ से श्रावणी से पाँच दिन पहले अमरनाथ की यात्रा पर। पहला पड़ाव चंदनबाड़ी, यहाँ बरफ का पुल। जीवन को खतरे में डालने वाली तीन दिन की यात्रा के बाद अमरनाथ। बर्फ का शिवलिंग।

वापिस आकर फिर श्रीनगर। श्रीनगर की प्रदर्शिनी, जो प्रतिवर्ष राज्य की ओर से होती है। उसमें काश्मीर के कला-कौशल का प्रदर्शन।

काश्मीर के सुंदर स्वर्गीय प्राकृतिक दृश्यों के साथ वहाँ के लोगों के नारकीय जीवन की तुलना।

वापिस रावलपिंडी के रास्ते। जम्मू वाले रास्ते जितनी चढ़ाई उतराई नहीं। रास्ते में कोहमरी। रावलपिंडी से रेल में वापिस।

रेलवे दुर्घटना

११ जनवरी को देहरादून ऐक्स्प्रेस से बहन को लेकर कलकत्ता से रवाना हुआ। रात की गाड़ी में आराम से सोये थे। समय लगभग ३ बजे रात। चिचाकी और हज़ारीबागरोड के बीच अचानक झटका महसूस हुआ और एकदम मैं गाड़ी से बाहर जा गिरा। इतने में ज़ख्मियों की चीखें, और भयंकर हाहाकार सुनाई दिया। उस समय मालूम हुआ कि गाड़ी उलट गई है। ऐंजिन के साथ कुछ अगले डिब्बे आगे निकल गये हैं, पिछले पटरी से उतर गये थे।

उसी समय हज़ारीबाग, गया और धनबाद से सहायता पहुँची। मृतकों और जख्मियों को निकालना आरम्भ हुआ। किसी के हाथ

पैर टूट गये किसी के सिर पर चोट। चारों ओर चीखें सुनाई देती थीं। कई ज़मीन पर मरे पड़े थे, कई डिब्बों के नीचे।

पुलिस का पहरा, रेलवे अफ़सर, प्रान्तीय सरकार तथा कांग्रेस के कार्यकर्ता मौके पर। कम चोट वालों को पास के हस्पताल में, अधिक चोट वालों को कलकत्ता पहुँचाया गया। मृतकों की फोटो लेकर दाहसंस्कार। रेलवे अधिकारियों के कथनानुसार २५ मरे बाकी घायल। लोगों के हिसाब से १०० के लगभग मरे। मेरी बहन के सिर पर चोट आई। सवेरे दस बजे की गाड़ी से कलकत्ता वापिस।

हवाई जहाज की सैर

वसंत के दिन हमने हवाई जहाज की सैर का निश्चय किया। ५) की टिकट लेकर लाहौर के ऊपर चक्कर लगाना था। सवेरे ८ बजे माडलटाउन के पास हवाई जहाज के अड्डे पर पहुँच गये। कोई ८½ बजे हवाई जहाज का ऐंजिन चलना शुरू हुआ। एक दम बहुत शोर। पहले ज़मीन पर हवाई जहाज ने चक्कर काटे, फिर ऊपर उठना शुरू किया। चक्कर काटते-काटते चाल बढ़ गई और थोड़ी देर में हम बादलों से ऊपर जा पहुँचे। नीचे देखने पर सिर में चक्कर। लाहौर के ऊँचे ऊँचे मकान, बाज़ार सब अस्पष्ट। दौड़ती हुई मोटरें मुश्किल से दीखती थीं। मनुष्य छोटे छोटे बिंदुओं के समान। लारैंस गार्डन, रावी, किला आदि सब पर चक्कर काट कर थोड़ी देर में फिर वापिस। मशीन धीरे धीरे नीचे उतरनी शुरू हुई, आवाज़ बंद होने लगी। फिर उसी दुनिया में।

विवेचनात्मक निबंध

संतोष

गोधन, गजधन, वाजिधन और रतन धन खान।
जब आवे संतोष धन, सब धन धूरि समान ॥—कबीर

जितना मिले उतने में प्रसन्न रहना ही संतोष कहलाता है।

व्याख्या

यह एक बड़ा गुण है। मनुष्य यदि संतोषी है तो निर्धन होते हुए भी कुबेर से भी अधिक धनी है, और यदि वह संतोषी नहीं है तो धनवान होते हुए भी निर्धन है। संतोषी मनुष्य न तो दीन होकर किसी के पास माँगने जाता है, और न वह किसी से लड़ाई झगड़ा करता है। उसका चित्त सदा प्रसन्न रहता है। वह गृह-कलह, चोरी, ठगी, जुआ, मिथ्या-भाषण आदि पापों से बचा रहता है। वह निर्द्वन्द होकर विचरता है। ईर्ष्यावश न वह किसी से द्वेष करता है और न उससे कोई वैर करता है। उसको किसी का भय भी नहीं होता और न वह किसी की खुशामद करता है।

सिकन्दर और डायोजिनीज़

संतोषी पुरुष अपने संतोष के बल से सम्राटों को भी नीचा दिखा सकता है। विजयमद से भरे हुए सिकन्दर बादशाह ने डायोजिनीज़ नाम के एक फकीर से कहा कि तू मुझसे कुछ माँग। उसने कहा—मुझे कुछ नहीं चाहिए। जब सिकन्दर ने उससे दुबारा माँगने को कहा तब डायोजिनीज़ ने बड़ी गंभीरता से कहा कि कृपा करके आप सामने से हट जाइए जिससे मेरे ऊपर धूप अच्छी तरह से आवे। अभिमानी सिकन्दर का मद चूर होगया।

सिकन्दर को बड़ा आश्चर्य हुआ कि संसार का राज्य प्राप्त करके भी उसे संतोष नहीं हुआ है और वह फकीर अपने टब (डायोजिनीज़ टब में ही बैठा रहता था) में ही मस्त था। सिकन्दर ने कहा कि यदि मैं सिकन्दर न होता तो निश्चय ही मैं डायोजिनीज़ होना पसंद करता।

संतोष की महिमा

संतोष की महिमा सब वेदों और पुराणों में गाई गई है। बिना संतोष के कोई साधक ईश्वर-प्राप्ति नहीं कर सकता। जिस मनुष्य में संतोष नहीं है चिन्ता उसे सदा घेरे रहती है। चिन्ता के कारण न वह इस लोक में प्रसन्न रह सकता है और न उस लोक में ही सुख-शान्ति प्राप्त कर सकता है।

संतोप प्राप्ति के उपाय

संतोष की महिमा अवश्य है, किन्तु इस परम गुण का प्राप्त करना सहज नहीं है। मनुष्य वासनाओं के जाल में फँसा हुआ है। जिस प्रकार अग्नि में घी डालने से अग्नि शान्त नहीं होती अपितु बढ़ती है उसी प्रकार वासनाओं का नाश उनकी तृप्ति से नहीं होता प्रत्युत उससे वासनाओं का तारतम्य बढ़ता ही रहता है। मनुष्य को नौ खाकर तेरह की भूख रहती है। यदि एक चाह मिटती है तो दूसरी उपस्थित हो जाती है। यदि धन की चाह नहीं है तो पुत्र-कामना बनी रहती है; यदि धन और पुत्र की कामना नहीं है तो यश की लिप्सा रहती है। मनुष्य की तृष्णा बुढ़ापे तक भी नहीं मिटती। कहा भी है 'तृष्णैव तरुणायते' अर्थात् तृष्णा अमरवेल की भाँति दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती रहती है। किन्तु जिस में तृष्णा रहती है वह सूखता जाता है। तृष्णा ही सब दुःखों का मूल है। जहाँ तृष्णा की तृप्ति नहीं हुई वहीं परम दुःख है।

तृष्णा की पूर्ति के लिए मनुष्य धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य का भी ख़याल नहीं करता। तृष्णा महा-रोग है। संतोष और तृष्णा का वैर है। जहाँ तृष्णा नहीं, वहीं संतोष रह सकता है।

तृष्णा-रूपी महारोग को दूर करने का क्या उपाय है? तृष्णा को दूर करने का सब से बड़ा उपाय यही है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को कम करे। मनुष्य बाह्य आडंबर को अनित्य समझ कर उसके लिए लालायित न हो। आवश्यकताएँ बढ़ाने से बढ़ती और घटाने से घटती हैं। किसी नई चीज़ के खरीदने से पहले सोच लेना चाहिए कि इसके बिना हमारा काम चल सकता है, या नहीं? और जिन लोगों के पास यह चीज़ नहीं है वे अपना काम किस प्रकार चलाते हैं। जिस मनुष्य की आवश्यकताएँ जितनी अधिक हैं, उसको दौड़ धूप की चिन्ता भी उतनी ही अधिक करनी पड़ती है और जितना ही मनुष्य दौड़ धूप या चिन्ता में लगा रहता है उतना ही उसे प्रसन्नता और संतोष भी कम मिलते हैं। यदि हम संतोषी बनना चाहते हैं, तो हमको अपनी आवश्यकताओं में कमी करनी चाहिए क्योंकि सारा संसार भी सब लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता।

शंका निवारण

संतोष के विरोध में यह कहा जाता है कि असंतोष के कारण उन्नति होती है। नीतिकारों ने कहा है कि 'असन्तुष्टाः द्विजाः नष्टाः सन्तुष्टाश्च महीभुजः'—असन्तुष्ट ब्राह्मण और सन्तुष्ट राजा नाश को प्राप्त होते हैं। सब लोग ब्राह्मण नहीं हो सकते। वास्तव में असंतोष उन्नति में कुछ सहायता देता है, किंतु असन्तोष अच्छी बातों का होना चाहिए। विद्या और धर्म के सम्बन्ध में जो असन्तोष होता है, वह सराहनीय है। धन के सम्बन्ध में असन्तोष वहीं तक क्षम्य है

जहाँ तक कि वह मनुष्य को चिंता का शिकार नहीं बना देता और उसे अधर्म की ओर नहीं ले जाता। अधर्म से कमाया हुआ सारे संसार का राज्य भी मनुष्य को शांति नहीं दे सकता। मुहम्मद गोरी के सम्बन्ध में कहा जाता है कि जब उसने देखा कि उसका खज़ाना उसके साथ नहीं जायगा तब वह रो पड़ा था। अधर्म द्वारा कमाये हुए धन से चित्त को सदा ग्लानि रहती है। सन्तोष का यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य लँगोटी लगाये बैठा रहे। मनुष्य उद्योग करे और सुख से रहे, पर वह अपने चित्त को न खो बैठे। वह रुपये के पीछे—अपनी लालसाओं के पीछे—पागल न हो जाय। कबीर दास जी ने अपने सन्तोष का आदर्श दूसरा ही बताया है—

"साईं इतना दीजिए, जामें कुटुँब समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाय॥"

राजाओं के लिए भी असन्तोष को संभवतः इसलिए अच्छा कहा है कि वे यदि संतोष कर लें तो राज्य की कभी वृद्धि न हो सके। परंतु उनमें भी किसी सीमा तक संतोष की आवश्यकता है। उनकी अत्यधिक साम्राज्य-लालसा और असंतोष सदा ही संसार में कलह और अशांति के मूल बनते रहे हैं। इसी असन्तोष के कारण राजा और प्रजा, पूँजीपतियों और मज़दूरों में खींचातानी मची रहती है। इसी के कारण राष्ट्र-संघ के सब प्रयास विफल हो जाते हैं। अपने पास चुपड़ी होते हुए भी लोग दूसरे के पास चुपड़ी नहीं देखना चाहते। यदि लोग अपने ईर्षा-भाव को कम कर सकें और यथा-शक्ति सन्तुष्ट रह कर स्वयं जीवित रहें और दूसरों को भी जीवित रहने दें तो यह पृथ्वीतल ही स्वर्ग बन सकता है।

आत्मसंयम

आत्मसंयम का अर्थ है, अपने मन तथा इन्द्रियों को रोकना या इच्छाओं को वश में करना। मन ही सब इन्द्रियों का मालिक है, इन्द्रियाँ उसकी आज्ञानुसार चलती हैं। अतः शास्त्रों में लिखा है, "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः"—अर्थात् मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है। इसकी गति मुँहजोर घोड़े के समान है। वह उलटे-सीधे मार्ग पर बेतहाशा दौड़ना चाहता है और अपने साथ इन्द्रियों को भी उलटे मार्ग में ले जाता है। अंत को वह अपने सवार—मनुष्य—को अवनति के गढ़े में गिराता है। इस बे-लगाम घोड़े को उलटे रास्ते में जाने से रोकने—उसको उच्छृंखल न बनने देने—को ही आत्मसंयम कहते हैं।

मन बड़ा भयंकर है। बड़े-बड़े ऋषि, मुनि और तपस्वी भी इसके आगे हार मान चुके हैं; फिर जन-साधारण की तो बात ही क्या है! जितेन्द्रिय अर्जुन ने भी मन को जीतना कठिन समझ कर कातर शब्दों में भगवान् से कहा था—'चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्, तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्'—अर्थात् हे भगवन्, यह मन बड़ा चंचल, हठीला, दृढ़ और बलवान है, इसे रोकना मैं वायु को रोकने के समान अत्यन्त दुष्कर समझता हूँ। जब अर्जुन का यह हाल था तब जन-साधारण का तो कहना ही क्या!

अच्छे कामों की अपेक्षा बुरे कामों में फँसने की मन की प्रवृत्ति अधिक होती है। सुन्दरी स्त्री को देखते ही उसमें काम-वासना पैदा

हो जाती है। थोड़ा सा अनिष्ट हो जाने पर वह क्रोध से जल-भुन उठता है। पराई चीज़ को देख कर उसे हड़पने का लोभ उसमें पैदा हो जाता है। सांसारिक माया-मोह में फँस कर वह कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को भूल जाता है। अपनी बुद्धि, धन और सुंदरता पर अहंकार कर वह दूसरों का अपमान करता है। इसके अतिरिक्त इन पापों में वह इंद्रियों को भी लपेट लेता है। इस तरह वह मनुष्य को नीचे ही नीचे घोर दु:खसागर में गिराता जाता है।

काम, क्रोध आदि की किसी सीमा तक प्रत्येक मनुष्य को आवश्यकता होती है—काम से सृष्टि की वृद्धि, क्रोध से शत्रुओं का नाश, लोभ से जीविका-उपार्जन तथा धन-संग्रह, मोह से संतान-पालन आदि क्रियाएँ होती हैं; परंतु जब ये ही बातें सीमा का उल्लंघन कर जाती हैं, तो मन को रोकने की या आत्मसंयम की आवश्यकता होती है। यदि उस अवस्था में मन को वश में न किया जाय, तो भारी अनर्थों की संभावना होती है। क्रोध को ही देखिये—आत्मरक्षा के भाव को छोड़ कर यदि क्रोध किया जाय, तो अनर्थ हो जाता है। क्रोध में मनुष्य विवेक या विचार शक्ति तो खो बैठता है, फिर उसे किसी की सुध नहीं रहती, बात-बात में वह लड़ने लगता है और दूसरों को अपना शत्रु बना बैठता है। फलत: जीवन को दु:खमय बना लेता है। परंतु शांत होने पर उसे अपने किये पर स्वयं पश्चात्ताप होता है। सारांश यह कि काम-क्रोध आदि में से किसी का भी अनुचित प्रयोग जीवन के लिए हानिकारक है। परन्तु प्राय: देखा जाता है कि मनुष्य यह जानते हुए भी इनका अनुचित प्रयोग करता है। इसका कारण है, उस के मन की असमर्थता या कमज़ोरी और इसी कमज़ोरी को दूर करने को 'आत्मसंयम' कहते है।

आत्मसंयमी के विचार सुसंगठित होते हैं। वह जो कुछ विचारता है, उसे विवेक-बुद्धि से शुद्ध कर लेता है। ऐसे मनुष्य का निश्चय दृढ़ होता है। परन्तु इसके विपरीत आत्मसंयम के अभाव में विचारों की दृढ़ता नहीं होती और प्रायः अस्थिर विचार होने के कारण मनुष्य को इधर-उधर भटकना पड़ता है।

वर्तमान समय में 'आत्मसंयम' के लिए महात्मा गांधी का जीवन उदाहरण रूप में पेश किया जा सकता है। आत्मसंयम के कारण ही महात्मा जी संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष माने जाते हैं। महात्मा जी के विचारों को जानने के लिए संसार इसी कारण व्याकुल रहता है कि उनके विचारों में दृढ़ता और शुद्धता होती है। महात्मा जी ने मन तथा अपनी अन्य इंद्रियों को अपने वश में कर रक्खा है। उनका मन जिस विषय पर विचार करने लगता है, ठीक-ठीक विचार कर सकता है। मन वश में होने पर जटिल प्रश्न भी सहज ही में सुलझाए जा सकते हैं। हमारे प्राचीनकाल के ऋषि-मुनियों ने भी इसी आत्मसंयम के बल पर ही बड़ी-बड़ी कठिन समस्याओं को हल किया था। अतएव वे मन के वेग को रोकने को—चित्तवृत्ति के निरोध को—ही योग कहते थे।

अब प्रश्न होता है कि ऐसे भयंकर मन को वश में कैसे किया जाय? पहले कहा जा चुका है कि मन को वश में करना बड़ा कठिन है। जिस प्रकार संसार में भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्य दृष्टिगोचर होते हैं, उसी प्रकार मन की भी अवस्था समझिए। किसी का मन आसानी से और किसी का कठिनता से वश में होता है। मन को वश में करने के निम्नलिखित साधन कहे जा सकते हैं:—

१. विषयों से वैराग्य—जब तक संसार की वस्तुएँ सुन्दर तथा सुखप्रद मालूम होती हैं तभी तक मन उनमें जाता है, यदि ये सब

पदार्थ अनित्य तथा दुखप्रद दीखने लगें तो मन कदापि उनकी ओर न जायगा।

२. नियम से रहना—यदि सारे काम ठीक समय पर किये जायँ, और हमेशा काम में लगे रहें तो मन वश में हो सकता है। खाली समय में ही मन में बुरे विचार आते हैं।

३. आत्मचिंतन—प्रतिदिन साँझ-सवेरे कुछ समय तक दिनभर के कार्यों पर विचार करना चाहिए, और यह देखना कि आज मन किसी बुरे काम में तो नहीं लगा और यदि लगा हो तो यह प्रण करना चाहिए कि आगे से उसे उस मार्ग में नहीं जाने दूँगा।

४. मन को सत्कार्य में संलग्न रखना—ऊपर लिख चुके हैं कि मन कभी निकम्मा नहीं रहता, अतः सदा उसे अच्छे कामों में लगाना चाहिए।

५. सद्ग्रन्थों का अध्ययन—अच्छे ग्रन्थों के पढ़ने से मन के विचार शुद्ध रहते हैं।

६. प्राणायाम या समाधि—समाधि से भी मन को रोका जा सकता है।

आत्मसंयम का अभ्यास करना सब के लिए आवश्यक है, विशेष कर युवावस्था में; क्योंकि युवावस्था में सन्मार्ग से गिरने के अनेक अवसर आते हैं और यदि इस अवस्था में आत्मसंयम का अभ्यास कर लिया जाय तो शेष जीवन सुखमय बन जाता है।

धैर्य

प्रवेश

आपत्ति के समय मन को स्थिर रखना धैर्य कहलाता है। मन स्वभाव से ही चंचल होता है और विपत्ति के समय तो और भी चंचल हो जाता है। नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प करने लगता है, एक मत पर स्थिर नहीं रहता। धैर्यवान मनुष्य मन को स्थिर रख कर काम करता है; वह विपत्ति में अपनी सावधानी और विचार-शक्ति को खो नहीं बैठता। उसका मन सदा एक-रस रहता है। न वह खुशी के समय प्रसन्नता से फूल जाता है और न विपत्ति आने पर व्याकूल हो 'किंकर्तव्य-विमूढ़' बन जाता है। धैर्यवान सदा शान्त-चित्त होकर काम करता है।

धैर्य की महत्ता

मनु महाराज ने धर्म के लक्षण बतलाते हुए धैर्य को पहला स्थान दिया है। 'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयम्' इत्यादि में धृतिः (धैर्य) ही पहले आता है। धैर्यवान पुरुष ही जीवन में सफलता प्राप्त कर सकता है, क्योंकि उसकी बुद्धि स्थिर रहती है। वह शान्त-चित्त हो सब बातों का लाभालाभ विचारता है और फिर अपने विचार के अनुकूल दृढ़ता-पूर्वक कार्य करता है। उसका लक्ष्य सहज में नहीं बदलता और वह अविरल परिश्रम द्वारा उस लक्ष्य को सिद्ध कर लेता है। मनुष्य को अपने कार्य में तो धैर्य रखना ही चाहिए, किन्तु जब किसी मनुष्य पर नेतृत्व का भार रख दिया जावे तब तो धैर्य परमावश्यक हो जाता है। जहाँ नेता धैर्य छोड़ देता है, वहाँ उसके

अनुयायियों के भी पैर उखड़ जाते हैं और जीती हुई बाजी हाथ से निकल जाती है।

अच्छे कार्यों में सदा विघ्न उपस्थित होते हैं। प्रारंभिक विघ्नों के कारण जो लोग अपने ध्येय को छोड़ बैठते हैं, सफलता उनसे बहुत दूर चली जाती है। जो आपत्तियों पर आपत्तियाँ आने पर भी अपने कार्य में संलग्न रहते हैं, वे ही सफलता का श्रेय पाते हैं। धैर्य केवल युद्ध-क्षेत्र में ही आवश्यक नहीं है, वरन् जीवन के प्रत्येक स्थल में इसकी आवश्यकता रहती है। उड़ाकू लोगों को शुरू में कितनी असफलताओं का सामना करना पड़ा था पर अब उन्होंने आकाश पर विजय प्राप्त कर ली है। गौरीशंकर पर चढ़ाई करने वाले बार-बार की असफलताओं से भी विचलित नहीं हो रहे, इसी कारण विजय-श्री उनके हाथ लगेगी। जो लोग असफलताओं के कारण धैर्य नहीं खोते, वे विजयी होकर अन्त में अपना अनुकरणीय आदर्श छोड़ जाते हैं।

उदाहरण

संसार के इतिहास में धैर्यवान पुरुषों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। वास्तव में धैर्यवान ही संसार का इतिहास बनाते हैं। भगवान कृष्ण के सामने कितनी आपत्तियाँ आईं, दावानल आया, अघासुर, वकासुर आदि दानवों ने सताया, काली-दह के विषैले जल में जाना पड़ा, किन्तु उन्होंने धैर्य-पूर्वक सब कठनाइयों को सहा और सब पर विजय पाई और अंत में लोगों को कंस और जरासंध के अत्याचारों से बचाया। पांडवों ने नाना प्रकार की आपत्तियाँ सहीं; अज्ञात-वास में रहे, सेवा-धर्म भी स्वीकार किया, सब प्रकार की कठिनाइयाँ उठाईं पर धैर्य नहीं छोड़ा; अतः अन्त में जीत उनकी ही हुई। सत्यपरायण हरिश्चन्द्र ने संकट के समय में धैर्य

नहीं खोया। अपने प्रिय पुत्र के शव के दाह के समय भी वे श्मशान का कर माँगे बिना नहीं रहे। उन्होंने अपने धैर्य और वचन की दृढ़ता के आगे अभिमानी इन्द्र को भी नीचा दिखा दिया था।

महाराणा प्रताप ने हल्दीघाटी के मैदान में हारने पर तथा कई वर्ष तक जंगलों में विपत्तियाँ सहते रहने पर भी धैर्य नहीं छोड़ा था, इसी लिए वे मुगलों से मेवाड़ को फिर वापिस लेने में समर्थ हुए।

महाराज शिवाजी अपने धैर्य के ही बल से औरंगज़ेब के फंदे से निकल कर पुनः हिन्दू साम्राज्य स्थापित कर सके थे। साधारण कोटि के मनुष्यों में भी धैर्य के उदाहरणों की कमी नहीं है। गोखले आदि देश के जगमगाते रत्नों ने बहुत ही गरीबी की अवस्था में धैर्य-पूर्वक अपना अध्ययन जारी रख कर इतना ऊँचा पद पाया था।

उपसंहार

धैर्य प्रत्येक स्थिति के मनुष्य के लिए आवश्यक है। धैर्य से सब सिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं। धैर्यवान पुरुष के आगे सब विघ्न-बाधाएँ सिर झुका लेती हैं। देश में धैर्यवान लोगों का होना सौभाग्य की बात है। उन्हीं से देश के सुधार की एक-मात्र आशा है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को जो अपना और देश का भला चाहता है, धैर्य प्राप्त करना चाहिए। कठिन से कठिन विपत्तियों में भी महापुरुषों के आदर्श को अपने सामने रखकर घबराना न चाहिए।

एकता

एकता से तात्पर्य है मेल। एकता मनुष्यों, जातियों और राष्ट्रों को उन्नति के शिखर पर पहुँचाने में बड़ी सहायक होती है।

एकता की सर्व-व्यापकता

जब हम इस जगत् पर दृष्टि डालते हैं, तो हमें पता चलता है कि सृष्टि के प्रत्येक अणु में एकता विराज रही है। यदि एक क्षण के लिए भी दुनिया में से एकता को उठा लिया जाय तो चारों ओर नाश ही नाश दृष्टिगोचर होने लगे। प्रकृति का निर्माण असंख्य वस्तुओं के मेल से हुआ है। हमारे शरीर की रचना भी अनेक अंगों और नस-नाड़ियों के मेल से हुई है। बड़े-बड़े विशाल भवनों को देखने से पता लगता है कि वे छोटी-छोटी ईंटों के मेल से ही बने हुए हैं। स्वयं मनुष्य यदि अपनी दिन-चर्या और अपने जीवन पर दृष्टि डाले तो उसे मालूम हो जायगा कि वह इस अमूल्य चीज़ के बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। दिन-रात मनुष्य को एकता की आवश्यकता रहती है। मनुष्य का घर-बार परिवार आदि भी इसी एकता के सूत्र में बँधे हुए हैं—यदि यह बिखरी हुई दशा में हो, यदि पति-पत्नी, भाई-बहन, पिता-पुत्र तथा अन्य संबंधियों में पारस्परिक एकता न हो अपितु फूट और कलह हो, तो मनुष्य को पल भर भी सुख नहीं मिल सकता। तात्पर्य यह कि संसार में कोई भी कार्य एकता के बिना न हो सका है, और न हो ही सकता है।

एकता का बल

जिन देशों में लोगों ने एकता के महत्त्व को भली प्रकार समझ लिया है, आज वे देश उन्नति के शिखर पर पहुँचे हुए हैं। उनका साम्राज्य, व्यापार, शिक्षा, देश की आर्थिक दशा—सब कुछ उन्नत अवस्था में हैं। इस उन्नति का कारण एकता का बल है। देखा जाता है कि छोटे-छोटे देश भी आज बड़े-बड़े साम्राज्यों का मुकाबला करने पर तुले हुए हैं। उनके पास एकता की ही शक्ति है। चींटी कितना छोटा जीव है, लेकिन जब ये मिल जाती हैं तो बड़े-बड़े कीड़ों को भी उठा ले जाती हैं। तृणों के मेल से रस्सी बनती है और उनसे मद-मस्त हाथी भी बाँध लिये जाते हैं। वर्षा की छोटी छोटी बूँदें मिलकर ही नदियों के प्रबल प्रवाह का रूप धारण कर लेती हैं। सारांश यह है कि यह सब संसार एकता से ही बना हुआ है। बहुत सी इमारतों के एक जगह बन जाने पर बड़े-बड़े नगर बन जाते हैं। एक-एक मनुष्य के मिलने से लाखों और करोड़ों की सेना बन जाती है।

इस प्रकार के उदाहरणों से सहज ही पता लग जाता है कि एकता की कितनी आवश्यकता है और यह कितनी अमूल्य वस्तु है। यदि देश-भर का प्रत्येक मनुष्य इसकी आवश्यकता का अनुभव करने लग जाय और यदि सारा देश एकता के सूत्र में बँध जाय, तो कितना उपकार हो सकता है। आज अँगरेज़ जाति एकता ही के कारण संसार में इतना बड़ा साम्राज्य सँभाले बैठी है। जापान को लीजिए—कितना छोटा सा देश है, लेकिन बड़ों-बड़ों के कान काटने को तैयार रहता है। उसमें एकता का ही तो बल है। एकता के बिना कोई देश, जाति अथवा समाज जीवित नहीं रह सकता।

प्राचीन इतिहास को पढ़ने से मालूम होता है कि एकता का अभाव होते ही देश में घोर अशान्ति फैल गई और अन्त में भारतवर्ष अपने उन्नति के शिखर से ऐसा गिरा कि अब तक सँभलने नहीं पाया। जयचन्द और पृथ्वीराज में एकता रहती तो आज भारतवर्ष को यह दिन देखने नसीब न होते। उनकी पारस्परिक फूट ने ही आज देश और हिंदू जाति को गहरे गड्ढे में ढकेल दिया है। रावण और विभीषण में एकता का अभाव होते ही रावण का राज्य—सोने की लंका—हाथ से जाती रही।

पुरानी बातों के उदाहरणों को छोड़ कर वर्तमान पर दृष्टिपात करने से भी यही पता लगता है कि भारतवर्ष के वाणिज्य की और सामाजिक तथा राजनीतिक दुर्गति का कारण भी एकता का अभाव है। हिन्दू और मुसलमानों की पारस्परिक फूट ने आज देश में अशान्ति तथा पराधीनता का वायुमंडल पैदा कर रक्खा है। यदि दोनों जातियों में एकता हो, तो देश का कितना कल्याण हो सकता है!

ध्यान रहे—एकता जीवन है, फूट मृत्यु! एकता पुण्य है, फूट पाप! एकता उन्नति है, फूट अवनति! एकता बल है, फूट पतन!

मित्रता

यद्यपि मनुष्य का जीवन खाने-पीने पर निर्भर रहता है, तथापि खाना-पीना उसके जीवन का मुख्य ध्येय नहीं है। वनस्पति की भाँति बढ़ने और पशुओं अथवा मशीनों की भाँति चलने में ही उसके जीवन की इति-कर्तव्यता नहीं हो जाती। शरीर के अतिरिक्त

मनुष्य में एक आत्मा भी है। यह आत्मा सदा अपने समान आत्मा से मिलकर अपनी पूर्णता चाहती है। मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक जीव है, किन्तु प्रत्येक मनुष्य के साथ प्रत्येक मनुष्य का मन नहीं मिलता, जिसके साथ मन मिल जाता है वही मित्र कहलाता है।

मन मिलने के लिए धनी-निर्धन, पंडित और अपंडित का प्रश्न नहीं होता। जिससे आत्मा की तृप्ति हो वही धनवान है, वही गुणी है, और वही पंडित है, 'सो ताको सागर जहाँ जाकी प्यास बुझाय।' मनुष्य अपने मित्र से सुख-दुख की सब बात कहकर अपने जीवन का भार हलका कर लेता है। सच्चा मित्र हमारे दुख में दुखी और सुख में सुखी होता है। वह हमको उचित परामर्श देकर सन्मार्ग की ओर ले जाता है और आपत्ति के समय वह हमारी तन-मन-धन से सहायता करता है।

यद्यपि आत्मा का आकर्षण अकारण होता है तथापि जहाँ पर एक-सा स्वभाव होता है वहाँ पर यह आकर्षण और भी बढ़ जाता है। समान-हित और समान रुचि के कारण एक दूसरे का मन लगा रहता है। जो प्रेम अकारण हो अथवा समान रुचि के कारण हो, वह ऊँचे दर्जे का प्रेम समझा जाता है और जो प्रेम स्वार्थ के कारण होता है वह नीचे दर्जे का माना जाता है। मित्रता चाहे जिस दर्जे की हो उसमें पूर्ण समता का भाव रहता है। इसी से लोग कहा करते हैं कि बराबर वाले से ही वैर और प्रीति करनी चाहिए, इसका यही आशय है कि मित्रता अपने बराबर वालों से ही करनी चाहिए और यदि आरंभ में बराबरी न भी हो तो मित्रता हो जाने पर कोई भेद-भाव नहीं रहना चाहिए। जहाँ छोटे-बड़े, ऊँच-नीच का भेद-भाव रहता है वहाँ पर मित्रता की जड़ कट जाती है।

संसार में सभी तरह के लोग होते हैं, कोई सज्जन होते हैं और कोई दुर्जन। सज्जन का प्रेम निःस्वार्थ होता है और उसकी मित्रता दोपहर के बाद की छाया की भाँति पहले कम होती है और फिर क्रमशः बढ़ती ही रहती है। और दुर्जन का प्रेम स्वार्थमूलक होता है, उसकी मित्रता प्रातःकाल की छाया की भाँति पहले बहुत अधिक होती है और पीछे क्रमशः घटती जाती है। ऐसे मित्रों को लक्ष्य करके ही गिरिधर कविराय ने यह कुंडलिया कही है—

"साईं या संसार में मतलब को ब्यौहार।
जब लगि पैसा गाँठ में तब लग ताको यार॥
तब लग ताको यार, यार सँग ही सँग डोलै।
पैसा रहा न पास यार मुख से नहिं बोलै॥
कह गिरधर कविराय, जगत यहि लेखा भाई।
करत बेगरजी प्रीति यार विरला कोई साईं॥"

जो लोग स्वार्थ के मित्र होते हैं, वे हम को अच्छी सलाह भी नहीं दे सकते, क्योंकि वे कड़वी बात कहने से डरते हैं। वे लोग अपने स्वार्थ-साधन के हित सदा ठकुरसुहाती (चापलूसी) की बातें करते रहते हैं। आपत्ति के आने पर वे हमारा साथ नहीं देते। क्योंकि फिर उन को स्वार्थ-साधन की आशा नहीं रहती। सच्चा मित्र वही है जो मित्र के दुख में दुखी हो।

गोस्वामी जी ने मित्रता का क्या ही ऊँचा आदर्श बतलाया है—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिनहिं बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्र के दुख रज मेरु समाना॥
जिनके अस मति सहज न आई। ते शठ हठ कत करत मिताई॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुण प्रगटै अवगुणहि दुरावा॥

देत-लेत मन शंक न धरहीं। बल अनुमान सदा हित करहीं॥
बिपति-काल कर शत गुण नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुण एहा॥

अर्थात् जो मनुष्य मित्र के दुख को देखकर दुखी न हो वह मित्र नहीं है। मित्र को चाहिए कि अपने दुख की कुछ भी परवाह न करे; पर मित्र के थोड़े से दुख को भी बहुत अनुभव करे। उसे चाहिए कि मित्र को बुरे रास्ते से हटाकर अच्छे रास्ते पर चलावे और जहाँ तक हो उसके गुण ही प्रकट करे। लेन-देन में कभी संकोच न करे और यदि कभी मित्र पर विपत्ति आवे तो उस समय पहले की अपेक्षा भी अधिक प्रेम प्रकट करे।

भारतीय इतिहास में निःस्वार्थ मित्रता के कई उदाहरण मिल सकते हैं; और दुर्जनों की मित्रता के उदाहरण भी कम नहीं हैं। जहाँ द्रुपद और द्रोणाचार्य का उदाहरण हमें बताता है कि साधारण मनुष्य प्रभुता पाकर उसके मद में अपने बाल्यकाल के गरीब मित्रों को भुला देता है वहाँ श्रीकृष्ण और सुदामा की मैत्री आदर्श निःस्वार्थ मैत्री कही जा सकती है। आज हज़ारों बरस बाद भी उस आदर्श मित्रता के गीत गाये जाते हैं।

द्वारकाधीश श्रीकृष्ण के दरवाजे पर उनके मित्र गरीब ब्राह्मण सुदामा जी आते हैं। श्रीकृष्ण महाराज का द्वारपाल उन्हें सुदामा का परिचय इस प्रकार देता है—

शीश पगा न झगा तन में, प्रभु जाने को आहि बसै किहि ग्रामा।
धोती फटी सी फटी दुपटी, अरु पायँ उपानह की नहिं सामा।
दीनदयाल को पूछत नाम, बतावत आपनो नाम सुदामा।

अर्थात् कोई आदमी दरवाज़े पर आया है जिस के न सिर पर पगड़ी है, न गले में कुड़ता है, न पाँवों में जूता है, धोती और

दुपट्टा फटे हुए हैं; अपना नाम सुदामा बताता है और प्रभु से मिलना चाहता है।

ऐसे मित्र का श्रीकृष्ण भगवान सिंहासन से एकदम उठ कर कितने प्रेम के साथ स्वागत करते हैं—

ऐसे बिहाल बिवायन सों भये कंटक जाल लगे पुनि जोये।
हाय महादुख पायो सखा तुम आये इतै न किते दिन खोये॥
देखि सुदामा की दीन दशा करुणा करिके करुणानिधि रोये।
पानि परात को हाथ छुओ नहिं नैनन के जल सों पग धोये॥

अर्थात् बचपन के मित्र सुदामा की दुर्दशा—उसके पैरों में काँटें और बिवाइयाँ फटी—देखकर श्रीकृष्ण की आँखों में आँसू उमड़ आये। सुदामा के पैर धोने के लिए उन्होंने परात में जल मँगाया था, पर परात का जल उन्हें छूना नहीं पड़ा, आँसुओं की धारा से ही सुदामा के पैर धुल गये। सुदामा के 'तंडुल' किस प्रेम से भगवान ने खाये, यह जगत्-विदित है। ऐसी ही मित्रता मित्रता के नाम को सार्थक करती है। सच्चा मित्र वही है जो विपत्ति में काम आवे। सुख में साथ रहना कोई महत्ता की बात नहीं। विपत्ति में साथ देना सज्जनता का द्योतक है। रहीम नें ठीक ही कहा है—

कहि रहीम संपति सगे, बनत बहुत बहु रीति।
बिपति कसौटी जे कसे, सोई साँचे मीत॥

महाकवि तुलसीदास ने भी कहा है—

"आपत्काल परखिए चारी, धीरज धर्म मित्र अरु नारी।"

आलस्य

आलस्य का स्वरूप

कष्ट से बचने के लिए काम करने की अनिच्छा को आलस्य कहते हैं। जो आज करना है उसको कल के लिए डाल रखना आलस्य है। प्रातःकाल चारपाई पर पड़े-बड़े मनसूबे बाँधते रहना भी आलस्य में शामिल है। आलसी मनुष्य को हाथ पर हाथ रखे रहने के सिवाय और कुछ नहीं आता। वह अपनी अकर्मण्यता के लिए प्रायः भविष्य का सहारा लेता है। 'अभी क्या जल्दी है', 'धीरे-धीरे सब हो जायगा', 'जल्दी का काम शैतान का है', ऐसी-ऐसी बातें कहकर वह अपने मन को समझा लेता है और जब काम न हुआ तो भाग्य को दोष देता है—'विधाता से क्या वश चलता है' 'होनी को कौन मेट सकता है', 'भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषं', ऐसी बातें कहकर वह अपने दोषों पर आवरण डालना चाहता है। आलसी यदि अधिक से अधिक काम करता है तो बैठा ताश खेलता है या गप्पें मारता है। काम का नाम सुनते ही वह मुँह छिपा लेता है। उसको काम की बात सुनना भी बुरा लगता है। वह अपनी अकर्मण्यता पर संतोष करता है और ईश्वर की कृपा का भरोसा दिखाता है। उसका तो यह मूल-मंत्र है—

> **"अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।**
> **दास मलूका कह गये, सब के दाता राम॥"**

आलस्य से हानियाँ

वह अपने मन को चाहे जिस तरह समझा ले, किन्तु आलस्य है बहुत बुरी चीज़। यह शरीर में घुन की भाँति प्रवेश कर उसका नाश कर देता है। आलसी मनुष्य के अंगों में बल नहीं रहता;

उसकी पाचनशक्ति मारी जाती है और वह शीघ्र ही रोग-ग्रस्त होकर समय से पूर्व अपनी जान से हाथ धो बैठता है। इसलिए कहा गया है कि 'आलस्यो हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः' अर्थात् आलस्य मनुष्यों के शरीर में रहनेवाला भयंकर शत्रु है। आलसी मनुष्य अपने जीवन में कभी सफल नहीं होता। उसके आगे काम का ढेर बढ़ता ही दिखाई देता है। बिना किये काम सिमिटता नहीं है। वह सदा झुँझलाहट में रहता है और जब काम करना अनिवार्य हो जाता है, तब वह जल्दी में काम बिगाड़ देता है। वास्तव में जो काम जिस समय करना चाहिए यदि वह उसी समय न किया जाय तो वह कभी अच्छी तरह नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त आलसी मनुष्य जीवन के सभी सुखों से वंचित रहता है। न वह प्रातःकाल की सौरभ-मयी शीतल मंद समीर का आनन्द ले सकता है और न सायंकालीन प्राकृतिक शोभा का ही मनोरम दृश्य देख सकता है। वह घर से बाहर खेले जाने वाले स्वास्थ्य-जनक खेलों में भी भाग नहीं ले सकता। आलसी आदमी देशाटन से भी लाभ नहीं उठा सकता। न उसका शरीर स्वच्छ रहने पाता है; न उसके कपड़े ही ठीक दिखाई देते हैं। लोग ऐसे आदमी से घृणा करते हैं। वह लोगों की सहानुभूति खो बैठता है। चाहे उसके दुर्भाग्य का ही क्यों न उदय हो गया हो किन्तु लोग उसकी अकर्मण्यता को ही दोष देते हैं।

सारांश यह है कि आलस्य बहुत बुरा है। इसका दूर करना कठिन अवश्य है, किन्तु असाध्य नहीं है। हम को सबसे पहले इस बात के लिए सचेत रहना चाहिए कि हम धर्म की आड़ में आलस्य को तो अपने हृदय में स्थान नहीं दे रहे। आलस्य प्रारम्भ में बड़े

आलस्य दूर करने के उपाय

सुन्दर रूप में प्रवेश करता है। जहाँ तक हो उसका अंकुर न जमने देना चाहिए। यदि कदाचित् जम भी जावे तो उसके नाश करने में सारी संकल्प-शक्ति लगा देनी चाहिए। जहाँ ज़रा दृढ़ संकल्प किया, वहाँ उसे जीतना कठिन नहीं रहता; किन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि एक बार भी हम लालच में न पड़ जावें। यह न सोचें कि एक बार आलस्य करने से क्या हानि है। एक बार में ही सारी तपस्या का फल नष्ट हो जाता है। हम को क्रियाशील बनने का अभ्यास डालना चाहिए। बेकारी की आदत बुरी होती है। यदि कोई काम न हो तो भी उपयोगी व्यसन (जैसे बागवानी, बढ़ईगिरी इत्यादि) में मन लगाए रखना चाहिए। ऐसा करने से हम आलस्य में फँसने से बच सकते हैं।

दृढ़ संकल्प के अतिरिक्त हमको अपनी शक्तियों पर भरोसा रखना चाहिए तथा दैव का सहारा लेना छोड़ देना चाहिए। इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि समय अनन्त नहीं है। दार्शनिकों के लिए चाहे अनन्त हो, किन्तु क्रियाशीलों के लिए एक-एक क्षण भी बड़े महत्त्व का है। जो क्षण चला गया उसका लौटना कठिन हो जाता है–'गया वक्त फिर हाथ आता नहीं।' जो काम आज हो सकता है उस को कल पर कभी नहीं छोड़ना चाहिए। मालूम नहीं कल क्या हो। शायद कल कभी न आवे और आवे भी तो वह और ही नई समस्याएँ उपस्थित कर दे। इसी से कहा है—

"काल करै सो आज कर, आज करै सो अब्ब।
पल में परलै होयगी, बहुरि करैगा कब्ब ?"

सदा धैर्य और साहस से काम करना चाहिए। विफलता के भय से मन मार कर बैठ जाना उचित नहीं। हमको यह विश्वास

रखना चाहिए कि उद्योग के आगे कोई कठिनाई नहीं ठहरती। जो लोग कठिनाइयों से विचलित हो जाते हैं, वे आलसी बनकर असफल मनोरथ रहते हैं।

उपसंहार

यदि हम अपना सुधार और देश का हित चाहते हैं तो हमको आलस्य का परित्याग करना चाहिए। आलस्य को छोड़ कर साहस-पूर्वक काम करने से सब ऋद्धि-सिद्धि सुलभ हो जाती हैं। यदि हम अपनी स्वयं मदद करेंगे तो ईश्वर भी हमारी मदद करेगा। याद रहे—"हिम्मते मर्दां मददे खुदा।

आज्ञा-पालन

आज्ञा-पालन का अर्थ

अपने से बड़े लोग हम से जो करने के लिए कहते हैं उसे आज्ञा कहते हैं। उनके कहने के अनुसार काम करना आज्ञा-पालन कहाता है। माता, पिता, पति, बड़ा भाई, स्वामी, सेना-नायक, सभापति, अध्यापक आदि सब अपने से बड़े माने जाते हैं। अपने से बड़े का अर्थ केवल उम्र में ही बड़ा नहीं है किन्तु जो पद या अधिकार में ऊँचा स्थान रखता हो, वह भी बड़ा है। जिस समय जो अधिकार में हो उसका कहना मानना हमारा धर्म हो जाता है। यदि एक मनुष्य जो अपने दफ्तर में किसी का मातहत है किसी सभा का अध्यक्ष बना दिया जाय तो उस समय उसके अफ़सर को भी उसकी आज्ञा का पालन करना आवश्यक होगा। यदि छोटा भाई फ़ौज में ऊँचा स्थान प्राप्त कर ले तो जिस समय वह नायकत्व कर रहा हो उस समय बड़े भाई को भी उसकी आज्ञा माननी होगी।

आज्ञा-पालन के लाभ

आज्ञा-पालन करने का बड़ा महत्त्व है, इससे आत्म-संयम का अभ्यास पड़ता है। जो लोग दूसरों की आज्ञा के अनुवर्ती नहीं हो सकते वे अपनी इच्छाओं को नियमित करने में असमर्थ रहते हैं। आज्ञा-पालन से शरीर में स्फूर्ति आती है और आलस्य मिटता है। आज्ञापालन ही संगठन का मूल है। जिस समाज के व्यक्ति अपने नायक का कहना नहीं मानते उस में कोई नियम या व्यवस्था नहीं रहती। आज्ञा देने का अधिकार एक ही मनुष्य को होता है। सब लोग नेता नहीं हो सकते। जहाँ पर बहुत से नेता हो जाते हैं, वहाँ लोग एक-सूत्र में बँध कर काम नहीं कर सकते। यदि सब लोग अपने नेता की आज्ञा मानते हैं तो उनका कार्य एक निश्चित आदर्श के अनुकूल हो जाता है और परस्पर लड़ने-झगड़ने में उनकी शक्ति का ह्रास नहीं होता। इस कारण उन्हें शीघ्र ही सफलता प्राप्त होती है। जिस कुटुंब में सब लोग बड़ों की आज्ञा का पालन करते हैं, उस में सुख और शांति का साम्राज्य रहता है। आज्ञा-पालन में बड़ों का बड़प्पन रह जाता है और छोटों को कर्तव्य-पालन से प्रसन्नता मिलती है। जो लोग स्वयं आज्ञा-पालन नहीं करते वे दूसरों से भी अपनी आज्ञा का पालन नहीं करा सकते। आज्ञा-पालन सुशिक्षा का द्योतक होता है। लोगों के हृदय में आज्ञापालन करने वाले के प्रति आदर-भाव उत्पन्न होता है। आज्ञा-पालन द्वारा जो अपने को नीचा बनाता है, वही पीछे से ऊँचा उठकर सर्व-श्रेष्ठ पद प्राप्त करता है। आज्ञा-पालन के फल-स्वरूप लोग सिपाही से कमांडर-इन-चीफ बन जाते हैं। आज्ञा-पालन उन्नति का मूल मन्त्र है। जो देश आज्ञाकारी व्यक्ति पैदा कर सकता है वह कभी नीचा नहीं देखेगा।

भारतवर्ष में आज्ञा-पालन के ऊँचे से ऊँचे उदाहरण मिलते हैं। मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी पिता की आज्ञा के पालन के निमित्त ही अयोध्या का राज्य छोड़ वनवासी हुए थे। पिता के मुख से आज्ञा निकली भी नहीं थी और वे उसका पालन करने को तैयार हो गये थे। भीष्म ने पिता की इच्छा को जानकर उसके औचित्य अनौचित्य का कुछ विचार न कर आजन्म ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा कर ली थी। हनुमान जी आदर्श आज्ञा-पालक थे। परशुराम जी ने पिता की आज्ञा से अपनी माता का बध तक कर दिया था।

आज्ञा-पालन के सम्बन्ध में यह प्रश्न अवश्य आता है कि उचित आज्ञा का ही पालन किया जाय अथवा अनुचित का भी। पहले तो गुरुजन अनुचित आज्ञा देते ही नहीं, और यदि देवें तो सेवक का यह धर्म है कि वह उसका अनौचित्य बतला दे और उस पर भी यदि आज्ञा हो तो उसका पालन करे। इस में आज्ञा-पालन करने वाले का दोष नहीं रहता, वरन् आज्ञा देने वाले का रहता है। हाँ, यदि कोई ऐसो आज्ञा हो जो सर्वथा धर्म के विरुद्ध हो तो उसका पालन करना ठीक नहीं है। उसका यदि विरोध भी किया जाय तो क्षम्य है; किन्तु जहाँ तक विशेष हानि न हो, वहाँ तक आज्ञा-पालन करना चाहिए। आज्ञा-पालन करने के पश्चात् आज्ञा देने वाले को उसका अनौचित्य बतला देना चाहिए। अपने को कष्ट से बचाने के लिए अथवा आलस्यवश आज्ञा की अवहेलना करना ठीक नहीं। पुलिस और सेना-विभाग में तो जब जो आज्ञा मिले उसी समय उसका पालन करना आवश्यक है, चाहे वह आज्ञा अनुचित ही क्यों न हो। औचित्य अथवा अनौचित्य का विचार करना प्रत्येक सिपाही का काम नहीं, यह कमांडर का काम है और तभी पूरा नियन्त्रण रह सकता है।

———

स्वावलंबन

अपने सहारे काम करने को स्वावलंबन कहते हैं। संसार में मनुष्य को दूसरों के संपर्क में आना पड़ता है और ये दूसरे कभी अपने अनुकूल होते हैं कभी प्रतिकूल। अनुकूल मनुष्यों से सहायता मिलने की आशा रहती है, प्रतिकूल मनुष्यों से नहीं। अनुकूल भी प्रत्येक मनुष्य को प्रत्येक समय सहायता नहीं दे सकते। इसी लिए संसार में स्वावलंबन की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य को केवल एक ही बार एक काम नहीं करना पड़ता, वरन् बहुत से काम ऐसे हैं जो नित्य-प्रति करने पड़ते हैं। जब तक हम इन कामों को करने का स्वयं अभ्यास नहीं डालते तब तक हम उन्हें नहीं कर सकते। प्राय: ऐसे अवसर भी आजाते हैं जब सहायक के उपस्थित न होने के कारण बड़ी आपत्ति का सामना करना पड़ता है। लखनऊ के किसी नवाब के सम्बन्ध में कहा जाता है कि जब तक कोई दूसरा आदमी उनके जूतों को दरवाज़े की ओर न कर देता, तब तक वे बाहर न जाते थे। एक बार उनको अपनी जान बचाकर भागने का अवसर आया। किन्तु उनके जूते दरवाज़े की ओर न थे और उस समय कोई नौकर भी न था, इसलिए वे घर से बाहर जाने में असमर्थ रहे और कैद कर लिए गए। ऐसे कोमल, कायर पुरुष तो कदाचित् भागकर भी अपने को नहीं बचा सकते। बहुत से लोग ऐसे भी हैं, जिनका बिना नौकरों के काम ही नहीं चल सकता; ऐसे लोगों का जीवन बड़ा दुखमय हो जाता है। यदि मनुष्य अपने जीवन में उन्नति करना चाहता है, तो उसको परावलंबन छोड़कर—परमुखापेक्षी न होकर—स्वावलंबन सीखना चाहिए।

यद्यपि संसार के बहुत से कार्य दूसरों के हाथ में होते हैं,तथापि स्वावलंबी के लिए सब सहज हो जाते हैं। अन्य लोग स्वावलंबी का आदर करने लगते हैं और उन्हें उसका थोड़ा बहुत भय भी होता है। वे जानते हैं कि स्वावलंबी मनुष्य अपने सहारे स्वयं खड़ा हो सकता है और उसे उन की इतनी आवश्यकता नहीं कि वह उनके बिना कोई कार्य कर ही न सके; उनसे जो कुछ सहायता ली जाती है, वह सद्भावना के कारण ही ली जाती है, आवश्यकता-वश नहीं। इसलिए उनकी सद्भावना बनाए रखना आवश्यक है। स्वावलंबी मनुष्य अपना बहुत-सा धन अपव्यय से बचा कर अन्य उपयोगी कार्यों में उसका सदुपयोग कर सकता है। उसे अपने समय का अपव्यय नहीं करना पड़ता। वह समय पर अपना काम करने में समर्थ होता है। उसे काम के अधूरा पड़ा रहने से झुँझ-लाना नहीं पड़ता और वह कर्त्तव्य-पालन के प्रयत्न में प्रसन्न रहता है। स्वावलंबी मनुष्य सदा हृष्ट-पुष्ट रहता है, क्योंकि उसके अवयव आलस्य-जन्य निष्क्रियता-वश शिथिल नहीं हो जाते। अतएव कहा है—"स्वावलंबी सदा सुखी।" उसके हृदय में उत्साह और शरीर में स्फूर्ति की मात्रा अधिकता से विद्यमान रहती है। उसके आगे आपत्तियाँ और कठिनाइयाँ सिर झुका लेती हैं और सफलता उसकी दासी होती है।

जो दशा व्यक्ति की है वही देश और जाति की भी है। जिस प्रकार व्यक्ति के लिए स्वावलंबन आवश्यक है, उसी प्रकार देश और जाति के लिए भी वह ज़रूरी है। कोई जाति उन्नत तभी हो सकती है, जब वह अपनी आवश्यकताओं के लिए दूसरों पर निर्भर नहीं हो। योरोपियन महायुद्ध (Great War) के दिनों में अकेला जर्मनी इंगलैंड, फ्रांस, रूस, इटली आदि शक्ति-शाली देशों

की सम्मिलित सेना का भी लगातार कई वर्ष तक केवल इसी लिए मुकाबला कर सका था कि वह स्वावलंबी था। अनाज, अस्त्र-शस्त्र आदि के लिए उसे किसी दूसरे देश का मुँह नहीं देखना पड़ता था। व्यक्ति और जाति अपने भाग्य के आप ही विधायक होते हैं। हम दूसरों की सहायता की जितनी ही अपेक्षा करते हैं, उतना ही हम अपने को अयोग्य बनाते हैं, उतना ही हम पराधीनता की बेड़ियों में जकड़े जाते हैं। ईश्वर भी उसी समय हमारी मदद करता है जब हम स्वयं अपनी सहायता करने को तैयार होते हैं। इसलिए मनुष्य को सदा स्वावलंबी बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

ईश्वर-भक्ति

"हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥"

हम चाहे जिस धर्म के हों हमको एक ऐसी व्यापक शक्ति माननी पड़ती है, जिसके सहारे यह चराचर संसार स्थित है। इसी को हिन्दू लोग ईश्वर कहते हैं और मुसलमान खुदा। बड़े के प्रति जो प्रेम होता है उसे भक्ति कहते हैं; बराबर वालों के प्रति जो प्रेम होता है, उसे स्नेह कहते हैं। इस प्रकार ईश्वर-भक्ति का अर्थ है ईश्वर के प्रति अनुराग।

अब प्रश्न यह होता है कि हम ईश्वर की भक्ति क्यों करें। जब हम ईश्वर के गुणों पर विचार करते हैं, तभी हमको इस प्रश्न का उत्तर मिल जाता है। ईश्वर में सब सद्गुण हैं; वह निर्विकार है, उस में राग-द्वेष नहीं है, वह किसी के साथ अन्याय नहीं करता,

जिसका जैसा कर्म होता है, उसके अनुकूल ही उसको फल देता है। संसार की सारी चीज़ें अपूर्ण हैं; केवल परमेश्वर ही पूर्ण है। उसके नियम अटल हैं, परन्तु वह दयामय है। हम एक बीज डालते हैं, उससे अनेकों फल उत्पन्न होते हैं। ऐसे ही समय पर सब काम होते हैं। सूर्य, चन्द्र और अन्य नक्षत्र सब नियम से चलते हैं। नियम के ही अनुकूल ऋतुएँ आती और जाती हैं। नियम से ही दिन और रात होते हैं। इन सब का नियंत्रण करने वाला वही ईश्वर है।

जब प्रकृति की विचित्रताओं को देख कर मानव-हृदय दंग रह जाता है, तब ईश्वर के प्रति स्वभाव से ही भक्ति उत्पन्न होती है। हम में सद्‌गुणों के प्रति सदा आकर्षण रहता है। ईश्वर सद्‌गुणों की खान है, इस लिए उसके प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक है। भक्ति से हमारे भावों में एक प्रकार की पूर्णता आ जाती है।

भक्ति से क्या लाभ है ? यद्यपि परमेश्वर को हमारी भक्ति के होने या न होने से कोई हानि अथवा लाभ नहीं है, तथापि हमको उससे लाभ है। ईश्वर की भक्ति से हमारे चित्त में शान्ति रहती है। शान्ति से हम को प्रसन्नता मिलती है। ईश्वर की भक्ति के कारण हम उसकी आज्ञाओं का पालन करने के लिए उत्सुक रहते हैं। सदाचारी बनते हैं और अपने आचरण को सुधारते हैं। जो लोग किसी के भय से सदाचारी होते हैं उनका इतना महत्त्व नहीं जितना कि उनका जो ईश्वर के प्रेम-रस में डूब कर मनुष्य-मात्र का उपकार करते हैं। प्रेम का भय सच्चा होता है, भय का प्रेम प्रशंसा योग्य नहीं ? हम जिस वस्तु से प्रेम करते हैं उसके गुणों को प्राप्त कर लेते हैं। फलतः ईश्वर की भक्ति से हमारी आध्यात्मिक उन्नति होती है।

ईश्वर-भक्ति के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं और इसी दृष्टि से संभवत: संसार में भिन्न-भिन्न धर्मों की सृष्टि हुई है। प्रत्येक धर्म के लोग प्राय: अलग-अलग तरीके से ईश्वर की भक्ति करते हैं।

वहुत से लोग ईश्वर की भक्ति कुछ आशा या कामना रख कर करते हैं और वहुत से लोग विना किसी कामना के करते हैं। पहली भक्ति निष्काम भक्ति कहलाती है और दूसरे प्रकार की भक्ति को सकाम भक्ति कहते हैं। निष्काम भक्ति का अधिक महत्त्व है।

प्राचीन-काल में वड़े-वड़े भक्त हो गए हैं; इन में ध्रुव और प्रह्लाद का नाम वड़े आदर से लिए जाता है। ये दोनों ही राज-कुमार थे, इन्होंने ईश्वर-भक्ति के आगे सव सांसारिक ऐश्वर्यों को तुच्छ समझा। मीरावाई ने राजमर्यादा को छोड़ कर साधुवृत्ति को धारण कर लिया था। उन्होंने ईश्वर-भक्ति के वड़े सुन्दर पद वनाये हैं। "मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई" वाला पद वहुत प्रख्यात है। समर्थ गुरु रामदास, तुलसीदास, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, रैदास, सूरदास नन्ददास, कुंभनदास आदि राम और कृष्ण के अनेक भक्त हो गये हैं, जिनकी सुधामयी वाणी ने हिन्दी साहित्य को सरस वना दिया है। ये लोग न ऐश्वर्य की परवाह करते थे न धन की लालसा रखते थे। केवल ईश्वर-भक्ति में ही मग्न रहते थे। ये लोग भक्ति के आगे मुक्ति भी नहीं चाहते थे। कवीरदास जी कहते हैं:—

मुक्ति भुक्ति माँगौं नहीं, भक्ति दान दे मोहिं।
और कछू याचौं नहीं, निसि दिन याचौं तोहि॥

द्वेष

द्वेष का अर्थ

द्वेष का अर्थ किसी के प्रति दूसरे का सा भाव रखना है । द्वेष राग का विरोधी शब्द है । राग प्रेम को कहते हैं, और प्रेम के प्रतिकूल भाव अर्थात् वैर को द्वेष कहते हैं । द्वेष में दूसरे का अनिष्ट-चिन्तिन आ जाता है । इस अनिष्ट-चिन्तन में मनुष्य धर्म और अधर्म का भी विचार नहीं रखता । जिस के प्रति द्वेष होता है, उसकी कोई बात अच्छी नहीं लगती । उसकी बड़ाई या समृद्धि सुन कर दुःख होता है और उसको हर प्रकार से हानि पहुँचाने का प्रयत्न किया जाता है ।

द्वेप से हानियाँ

द्वेप अनेक अनर्थों का मूल है । इससे क्रोध, भय और दुःख उत्पन्न होते हैं । इसके कारण मनुष्य अपनी प्रसन्नता खो बैठता है और उसी के साथ स्वास्थ्य से भी हाथ धो बैठता है । द्वेष की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है । जहाँ एक बार द्वेष का आरंभ हुआ वहाँ सर्वनाश हुए बिना नहीं रहता । द्वेष यदि घर में हो तो घर नष्ट हो जाता है और समाज में हो तो समाज छिन्न-भिन्न हो जाता है । जहाँ समाज अथवा देश की दो जातियों में द्वेष का अंकुर पैदा हुआ वहाँ वे एक दूसरे के घात-प्रतिघात में अपना समय और शक्ति नष्ट करती रहती हैं, और देश में अशान्ति की भीषण ज्वाला फैल जाती है ।

किसी भी देश की उन्नति तब तक असंभव है जब तक उस देश के अधिवासियों में परस्पर द्वेप है । द्वेष उन्नति के मार्ग में

काँटा है । जिस देश अथवा जाति में यह संक्रामक रोग प्रविष्ट हो जाता है, उसे नष्ट किये बिना नहीं छोड़ता । परन्तु जो देश और जातियाँ इस रोग से बची हुई हैं, वे उन्नति के उच्च शिखर पर आरूढ़ हैं।

महाभारत के इतिहास को कौन नहीं जानता ? पांडवों और कौरवों के द्वेष ने भारतवर्ष का सर्वनाश कर दिया। जयचन्द और पृथ्वीराज की शत्रुता ने मुसलमानों को आक्रमण करने का अवसर दिया और उनके राज्य की नींव डलवाई। बाद में मुसलमानों के पारस्परिक द्वेष ने उन्हें भी न रहने दिया और उन से भी राज्य छीन लिया गया। इस चांडाल द्वेष ने भारतवासियों को खूब नचाया है और अब तक नचा रहा है। इन दिनों भी द्वेष की अग्नि प्रचंड है। न केवल हिन्दू मुसलमानों में लड़ाई रहती है, बल्कि हिन्दू-हिन्दू और मुसलमान-मुसलमान भी आपस में लड़ते रहते हैं। सब में द्वेष ने घर किया हुआ है। किसी की किसी से नहीं बनती। यही कारण है कि भारत अपनी किसी भी धारणा पर स्थिर नहीं रह सकता, कोई भी काम मिलकर नहीं कर सकता और गुलामी की चक्की में पिस रहा है।

यह तो हुआ देश और जातियों का द्वेष । अब घर के द्वेष पर भी नज़र डालनी चाहिए। पति-पत्नी के मेल-मिलाप से जहाँ स्वर्गीय आनन्द की धाराएँ बहती हैं, वहाँ द्वेष के पहुँचते ही सब कुछ नष्ट हो जाता है। घर नरक समान हो जाता है। भाई-भाई में द्वेष हो जाय, तो कहना ही क्या ! घर की संपत्ति अदालतों और वकीलों की फ़ीसों में चुक जाती है। रावण और विभीषण के पारस्परिक द्वेष के कारण ही लंका का सर्वनाश होना प्रसिद्ध ही है।

द्वेष-शमन के उपाय

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस महारोग का शमन किस प्रकार किया जाय। इस का मूल कारण असन्तोष है। असन्तोष से ईर्षा बढ़ती है और ईर्षा द्वेष की जननी है। इस रोग के शमन के लिए सब से बड़ी औषधि सन्तोष है। इसके अतिरिक्त मनुष्य को इससे उत्पन्न होने वाली हानियों पर विचार करते रहना चाहिए। द्वेष दूर करने के लिए यदि अपने हितों का थोड़ा बहुत बलिदान भी कर दिया जाय तो बुरा नहीं है। हम को सब लोगों के प्रति साम्य भाव रख कर परस्पर आदान-प्रदान का अभ्यास करना चाहिए। जिस की हमें आवश्यकता है उसे हम ले लें और जिस चीज़ की दूसरे को आवश्यकता है, उसे हम दे दें।

द्वेष का होना कुल और जाति के लिए कलंक की बात है। इसको मिटाए बिना अभ्युत्थान की आशा करना व्यर्थ है। अपने चित्त की शान्ति, कुल की वृद्धि और देश या जाति की उन्नति के लिए द्वेष-भावना का समूल नाश करना चाहिए। इस के लिए जो कुछ बलिदान करना पड़े, कर देना चाहिए।

निर्धनता

निर्धनता के सम्बन्ध में नीतिकारों ने कहा है कि निर्धनता सब आपत्तियों की जड़ है। यह बात कुछ अंश में सत्य है और कुछ अंश में मिथ्या।

निर्धन मनुष्य न तो भर पेट खा ही पाता है, न अच्छे कपड़े पहन सकता है, और न अपने बाल-बच्चों को पढ़ा-लिखा ही सकता है। रहने के लिए वह अच्छा मकान भी नहीं ले सकता। शहर

की तंग गलियों की कोठरियों में उसे गुज़ारा करना पड़ता है। न पर्याप्त स्वच्छ वायु मिलती है और न यथेष्ठ प्रकाश प्राप्त होता है। अन्न, वस्त्र और दूध के लिए उस के बच्चे सदा तड़पते रहते हैं। निर्धन के मनसूबे बिना सफल हुए ही छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, क्योंकि सब कामों के लिए धन की आवश्यकता रहती है। बृहस्पति की-सी बुद्धि रखते हुए भी वह हाथ पर हाथ रक्खे बैठा रहता है। आज-कल समाज में प्रतिष्ठा पाने के लिए सुन्दर वेश-भूषा का होना आवश्यक है। लोग अमीरों की-सी वेश-भूषा के बिना समाज में तिरस्कृत होते हैं। निर्धन मनुष्य की ईमानदारी के बारे में लोग स्वभाव से ही शंकित रहते हैं। किसी ने ठीक कहा है—"गरीब तेरे तीन नाम, झूठा पाजी बेईमान।" अमीर लोग यद्यपि गरीबों से कहीं अधिक बेईमान होते हैं, परन्तु उनकी वेईमानी पर सफेद कपड़ों का आवरण पड़ा रहता है। धन के बिना न विद्या का आदर होता है न बल का। धनवान को ही लोग पूज्य समझते हैं और वयोवृद्ध कहकर आदर देते हैं। सच है—सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति—अर्थात् सब गुण सोने के सहारे पर ही रहते हैं। निर्धन को तो श्वेत केशों के लिए आदर के स्थान में गालियाँ मिलती हैं। धन के बिना बेटा बाप की नहीं सुनता और भाई-भाई से मुँह मोड़ लेता है। धन होने पर दूर के नातेदार भी सगे बन जाते हैं, और उसके अभाव में सगे भी दूर के हो जाते हैं। कविवर रहीम ने ठीक कहा है—

> बरु रहीम कानन बसौ, असन करिय फल तोय।
> बन्धु मध्य धन-हीन ह्वै, बसिबो उचित न होय॥

सारांश यह कि आजकल दुनियाँ में धन का और धनवान का ही आदर है। निर्धनता या गरीबी एक बड़ा भारी शाप है। परन्तु

इतने पर भी हम यह नहीं कह सकते कि धनवान सदा सुखी है और निर्धन सदा दुखी। सुख और दुख तो मनुष्य की भावनाएँ हैं। प्रायः देखा जाता है धनी भी और अधिक धन की लालसा में दिन-रात इधर-उधर मारा-मारा फिरता है। उसे न दिन में चैन है न रात में नींद आती है। हमेशा चिंताएँ सताती रहती हैं। मुकदमे, चोरी तथा जान का खतरा उस के सदा के साथी हैं। उसको बहुत से खुशामदी अवश्य मिल जाते हैं, परन्तु संसार में उससे ईर्षा करने वाले, और उसकी बढ़ती देखकर जलने वाले दुश्मनों की संख्या भी कम नहीं होती। निर्धन को इन बातों की चिंता नहीं होती। वह दिन भर मेहनत-मज़दूरी करता है, और रात को मज़े की नींद लेता है। एक कहानी प्रसिद्ध है कि एक सेठ के पास अपार धन था, पर उसे रात को कभी नींद न आती थी। उसके पड़ौस का मोची पौष और माघ की रातें मज़े में एक फटे कंबल में गुज़ार देता था। सेठ यह देखकर हैरान होता था। एक दिन सेठ ने एक साधु से कहा कि इतना धन होते हुए भी मैं सुख से नहीं सो सकता; परन्तु यह मोची रात में खूब आराम की नींद लेता है। साधु ने कहा—तुम्हारा धन तुम्हारे जीवन को दुखी बनाये हुए है। यदि मोची के पास भी धन होता तो उसकी भी यही हालत होती। अगर तुम मेरा कहना प्रत्यक्ष करना चाहते हो तो उसके घर में ९९ रुपयों की एक थैली डाल दो और दूसरे दिन से ही उसकी हालत देख सकते हो। सेठ ने साधु के कहने पर ९९ रुपये की एक थैली मोची के घर में डाल दी। मोची उसे पा कर बहुत खुश हुआ। उसने जब थैली को खोल कर गिना तो ९९ रुपये निकले। वह सोचने लगा कि यदि पूरे सौ रुपये हो जाते तो अच्छा था। दूसरे दिन से वह अपना

पेट काट कर दो-दो पैसे जोड़ने लगा । रात को सिरहाने के नीचे गठरी रखकर सोता, उसे रात भर डर लगा रहता कि कहीं कोई उस थैली को न ले जाय । इस तरह उसकी भी रात की नींद मारी गई । जब उसके पास सौ रुपये हो गये तब वह दो सौ की चिंता में पड़ा। इस तरह पेट काटने और रात में नींद न आने से उसकी भी उसी सेठ की-सी दशा हो गई। अतः जहाँ निर्धनता अपमान का कारण है वहाँ निर्धनता किसी सीमा तक निश्चिन्तता भी देती है । निर्धन लोगों को साहस, स्वावलंबन और धैर्य आदि सद्गुणों के अभ्यास के लिए अनेक अवसर मिलते हैं । कठिन शारीरिक परिश्रम उनके शरीर को आदर्श बना देता है । बड़े-बड़े सेठ लोग रोज़ अनेक दवाइयाँ खाते रहते हैं, पर गरीब मज़दूर रूखा सूखा खाकर ही खूब हृष्ट-पुष्ट रहते हैं । गरीब होते हुए भी यदि मनुष्य के हृदय में सन्तोष और आत्मविश्वास है तो वह निर्धनता में ही सुखी रह सकता है । सन्तोष ही उसका परम धन होता है । मधुर वचनों से वह सब का आदर कर सकता है। उसके लिए सभी स्थान एक से हैं । जहाँ जाता है वहीं उसका घर बन जाता है । उसके यदि मित्र नहीं होते तो शत्रु भी नहीं होते। वह सब के साथ एक-सा व्यवहार कर गरीबी में खुश रह सकता है।

रहिमन रिस को छाड़ि के, करौ गरीबी भेस।
मीठे बोलौ नै चलौ, सबै तुम्हारो देस॥

ऐसा निर्धन व्यक्ति ही समाज के लिए आदर्श स्वरूप होता है, ऐसा निर्धन व्यक्ति ही परमात्मा को पा सकता है । महात्मा ईसा ने कहा है कि अभिमानी धनी का परमात्मा के दरबार में घुसना ऐसे ही असंभव है जैसा कि ऊँट का सुई की नोक में से गुज़रना।

अतः संतोषी व्यक्ति के लिए निर्धनता शाप नहीं अपितु वरदान है। परन्तु अति हर एक चीज़ की बुरी होती है । ऐसी निर्धनता भी न चाहिए कि मनुष्य के भूखे मरने की नौबत आ जाय । तभी तो महात्मा कबीरदास प्रभु से इतना अवश्य माँगते हैं—

"साँई इतना दीजिए, जामें कुटुँब समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाय॥"

पति-भक्ति

एकै धर्म एक व्रत नेमा । काम बचन मन पति-पद-प्रेमा॥
मन वच कर्म पतिहि सेवकाई। तियहि न पति सम आन उपाई॥

हिन्दुओं में विवाह एक धार्मिक संस्कार माना गया है । दूसरे देशों में तो विवाह एक दूसरे के साथ रहने की प्रतिज्ञा-मात्र समझी जाती है। जब जो चाहे उसे तोड़ सकता है; किन्तु भारतीय आदर्श ऐसा नहीं है। भारतीय आदर्श के अनुसार पति-पत्नी का संबन्ध अटूट संबन्ध है । वह केवल शरीर और मन का संबन्ध नहीं है, अपितु उसमें आत्मा का भी सम्बन्ध है।

स्त्री की ओर से इस आध्यात्मिक संबन्ध को दृढ़ बनाने के लिए जो प्रेम, श्रद्धा और आत्म-समर्पण का भाव रहता है वही पति-भक्ति कहलाती है। जिस प्रकार स्त्रियों के लिए पति-भक्ति बतलाई गई है, उसी प्रकार पुरुषों के लिए एक-पत्नी-व्रत का आदेश दिया गया है। जिस प्रकार सीता जी पातिव्रत धर्म की मूर्ति मानी जाती हैं उसी प्रकार श्री रामचन्द्र जी भी एक-पत्नी-व्रत के आदर्श समझे जाते हैं। भारतीय स्त्रियों के लिए पति-पूजा ही सब से बड़ा

धर्म बतलाया गया है, और अन्य व्रतों आदि का उनके लिए निषेध किया गया है।—

"पत्यौ जीवति या स्त्री उपवास-व्रतं चरेत्।
आयुष्यं हरते भर्तुर्नरकं चैव गच्छति ॥"

अर्थात् पति के जीवित रहते हुए जो स्त्री पति-सेवा को छोड़ कर उपवास या व्रत करती है वह पति की आयु हरती है और स्वयं नरक में पड़ती है।

गार्हस्थ-जीवन की सफलता के लिए पति-भक्ति अत्यन्त आवश्यक है। जहाँ एक ओर प्रेम और भक्ति है; वहाँ दूसरी ओर उदासीनता नहीं रह सकती। सच्चा प्रेम विजयी होता है, इसी लिए पूर्ण भक्ति का आदेश दिया गया है। पति-पत्नी की प्रीति और परस्पर अनुकूलता में ही गार्हस्थ जीवन की सफलता है। गार्हस्थ जीवन की इसी सफलता और इसी कल्याण-कामना के लिए पति-भक्ति आवश्यक है। हिन्दू शास्त्रों में बतलाया गया है कि पति चाहे दुराचारी हो परन्तु पत्नी को पति के साथ पूर्ण श्रद्धा और भक्ति का व्यवहार करना चाहिए। यदि पति के दुराचारी होने पर पत्नी भी उसका अनुकरण करे तो घर घोर नरक हो जायगा। यदि स्त्री में सच्चा प्रेम हो तो वह दुराचारी से दुराचारी पति को भी वश में कर सकती है। अतएव स्त्री के लिए पति की सेवा परम धर्म माना गया है। इसमें स्वार्थ की भावना नहीं है। पति के गुणों वा अवगुणों का विचार न करके उसे पति-सेवा करनी चाहिए—

वृद्ध रोग-वस जड़ धन-हीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना।
ऐसेहु पति कर किय अपमाना। नारि पाव यमपुर दुख नाना।

पति-सेवा को आजकल की स्त्रियाँ कुछ बुरा समझती हैं, किन्तु वे सेवा का महत्त्व नहीं समझतीं। प्रेम की सेवा मनुष्य को

पूज्य बना देती है । श्रीकृष्ण भगवान ने युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सब के पैर धोने का काम स्वीकृत किया था और महाभारत के युद्ध में वे अर्जुन के सारथी बने थे। पत्नी का प्रेम निःस्वार्थ और अचल बतलाया गया है। निःस्वार्थ होने से ही वह अचल बन सकता है। स्वार्थ-पूर्ण प्रेम दृढ़ नहीं होता। सती सीता जी निर्वासित हो जाने पर भी रामचन्द्र को दोष नहीं देतीं । वे अपने पूर्व-जन्म के कर्मों को दोष देती हुई कहती हैं, कि जब वे प्रसूति कर्म से निवृत्त हो जावेंगी, तब सूर्य की ओर दृष्टि लगाकर यही प्रार्थना किया करेंगी कि जन्म-जन्मान्तर में भी उनको रामचन्द्र जी ही पति मिलें। क्या ही ऊँचा आदर्श है ! भारतवर्षीय स्त्रियों का ऐसा ऊँचा आदर्श था, तभी तो राजपूत-रमणियाँ अपने पातिव्रत धर्म की रक्षा के लिए हँसते हँसते अपनी जान निछावर कर दिया करती थीं।

हिन्दू धर्म में प्रेम की अनन्यता बतलाई गई है। अनन्यता बिना प्रेम दृढ़ और निश्चल नहीं रहता। जहाँ इस अनन्यता का अभाव है, वहीं अशांति रहती है। स्वतंत्रता में शान्ति नहीं है। आजकल लोग जिसे स्वतन्त्रता कहते हैं वह वास्तव में उच्छृंखलता है, उसका बुरा परिणाम होता है। उससे आत्मग्लानि होती है। अनुसूया ने जनक-नन्दिनी सीता को पातिव्रत धर्म का उपदेश देते हुए बतलाया था कि उत्तम स्त्रियाँ वे हैं जो यह समझें कि अपने पति के सिवाय संसार में दूसरा पुरुष है ही नहीं। मध्यम दर्जे की स्त्रियाँ वे हैं जो और पुरुषों को भाई और पिता के समान समझती हैं। जो कुल की मर्यादा की रक्षा के अर्थ धर्मचारिणी बनी रहती हैं वे निकृष्ट हैं। जो अवसर न मिलने के कारण धर्म से बाहर नहीं होतीं वे अधम हैं। यह बतला कर उन्होंने दिखाया है कि धर्म

वही है जो मन, वचन और कर्म से हो। बाहरी दवाव अथवा लोक-लाज से जिस धर्म का पालन किया जाता है वह सच्चा धर्म नहीं है। धर्म हृदय की वस्तु है।

यही हिन्दुओं के पातिव्रत धर्म का आदर्श है। इसी धर्म में सीता, सावित्री, दमयन्ती और शैव्या चली थीं। इसी धर्म के कारण राजपूत-रमणियाँ मुसलमान सम्राटों के वैभव और ऐश्वर्य को तृणवत् समझ कर हँसते-हँसते चिता में बैठकर प्राण न्योछावर कर देती थीं। ऐसी ही स्त्रियों से देश और धर्म का गौरव है। इस धर्म के पालन से ही गार्हस्थ जीवन का सुख स्वर्ग से भी बढ़ जाता है।

देश के प्रति देशवासियों का कर्त्तव्य

हम पर देश का ऋण

जिस प्रकार मनुष्य माता-पिता के उपकार से उऋण नहीं हो सकता, उसी प्रकार वह देश के ऋण को भी नहीं चुका सकता। माता-पिता बच्चे को जन्म देते हैं। बच्चा जन्म के साथ शारीरिक और मानसिक शक्तियों का कुछ दाय भी प्राप्त कर लेता है; किन्तु उन शक्तियों के विकास तथा बच्चे से मनुष्य बनने के लिए जितनी सहायता देश की संस्थाओं से मिलती है उतनी और किसी से नहीं मिलती। वैसे तो माता-पिता भी देश के अंग हैं; किन्तु जन्म के पश्चात् बच्चे का सारा विकास देश की भूमि और

जल-वायु पर ही निर्भर रहता है । जिस भूमि पर हम बैठते और चलते हैं; जिस भूमि पर हमारे मकान बनते हैं, और जिस भूमि से हमें अन्न तथा सुन्दर फल-फूल मिलते हैं, वह भूमि देश की ही है। जो वायु श्वास के रूप में हमारे शरीर में आता है और जिस पर हमारे प्राण निर्भर हैं, वह वायु देश ही का है। जिस भाषा को बोलकर हम मनुष्य कहलाते हैं, वह भी देश ही की है। जिस ज्ञान को हम प्राप्त कर सकते हैं वह भी देश के ही लोगों द्वारा अर्जित किया हुआ है। देश से हमारी रक्षा होती है, देश से हमको आजीविका मिलती है और देश ही से हमारा पालन-पोषण होता है।

देश के प्रति कर्त्तव्य पालन की आवश्यकता

देश के उपकार से हम कभी उऋण नहीं हो सकते; उसके प्रति हमारा बहुत कुछ कर्त्तव्य है और उसका पालन करना हमारा परम धर्म है। देश के प्रति अपना धर्म-पालन करने से हमारा ही उपकार होता है । हमारा देश जितना ही उन्नत होगा हमको और हमारी सन्तान को उतना ही लाभ पहुँचेगा। यदि देश में अशान्ति है तो हमारे सब काम रुक जाते हैं। देश की समृद्धि में हमारी समृद्धि है और देश के पतन में हमारा पतन है। जिस देश से हम उन्नत हुए उसको उन्नत बनाना हमारा कर्त्तव्य है। देश की उन्नति के जितने मार्ग हैं वे सब हमारे कर्त्तव्य के क्षेत्र हैं। जितनी प्रकार की उन्नति हो सकती है, उतने ही हमारे कर्त्तव्य के मार्ग हैं । उन मार्गों में से मुख्य ये है—आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, मानसिक और आध्यात्मिक। यद्यपि ये मार्ग अलग-अलग गिनाए गये हैं तथापि इनका परस्पर सम्बन्ध है। एक प्रकार की उन्नति का दूसरे प्रकार की उन्नति पर प्रभाव पड़ता है।

आर्थिक उन्नति

आर्थिक उन्नति के कई साधन हैं, जिनमें कृषि और व्यवसाय मुख्य हैं। कुछ लोग सीधे तौर से कृषि और व्यवसाय को लाभ पहुँचा सकते हैं, और कुछ लोग ऐसे कार्यों द्वारा लाभ पहुँचाते हैं जिनसे कृषि और व्यवसाय की उन्नति हो। जो लोग स्वयं उत्तम साधनों द्वारा खेती करते अथवा कल-कारखाने खोलकर व्यवसाय में प्रवृत्त होते हैं वे तो अपना कर्त्तव्य-पालन करते ही हैं, किन्तु बहुत से लोग अन्य प्रकार से भी इस उन्नति में सहायक हो रहे हैं। स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार देश के व्यवसाय को बहुत बड़ी सहायता पहुँचा सकता है। प्रत्येक देशवासी का कर्त्तव्य है कि वह यथा-संभव स्वदेशी वस्तुओं का ही व्यवहार करे। कृषकों को कम सूद पर रुपया देना और उनको अच्छा बीज दिलवाना भी कृषि की उन्नति का एक साधन है। व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा कृषकों तथा व्यवसायियों के लिए सुभीते के कानून बनवाना भी देश-सेवा है।

सामाजिक

अपने रहन-सहन को उत्तम बनाना और समाज के सब अंगों में प्रेम-भाव की वृद्धि करना सामाजिक उन्नति का ध्येय है। अछूतोद्धार भी सामाजिक उन्नति का अंग है। बिना अछूतोद्धार के समाज में बल नहीं आ सकता। बाल-विवाह-निषेध, अनमेल विवाहों का रोकना, विधवाओं को धर्म-भ्रष्ट होने से बचाना, पारिवारिक कलह को दूर करना, धार्मिक संप्रदायों में प्रेम-भाव बढ़ाना आदि बातें सामाजिक सेवा के अंग हैं। इनका संबंध सामाजिक उन्नति से है।

राजनीतिक उन्नति

देश में ऐसी स्थिति पैदा करना, जिससे देशवासी उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन कर सकें, सबको अपनी उन्नति करने के लिए समान अवसर मिल सके और सब लोग न्याय द्वारा उपार्जित धन का शांति-पूर्वक उपभोग कर सकें, इत्यादि बातें राजनीतिक उन्नति के अंतर्गत हैं। इसकी प्राप्ति के लिए न्यायानुकूल साधनों द्वारा प्रयत्न करना प्रत्येक देशवासी का कर्त्तव्य है।

मानसिक और आध्यात्मिक

ज्ञान की वृद्धि, शील और आचार का पालन, मनोवेगों का नियंत्रण, प्रेम, त्याग और ईश्वर-भक्ति के भावों का पुष्ट होना, साहित्य और संगीतादि कलाओं का अनुशीलन आदि बातें मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति के अंग हैं। इन अंगों की पूर्ति और पुष्टि करना प्रत्येक देशवासी का कर्तव्य है। जो जिस बात में योग दे सकता है, उसको उसी में योग देना चाहिए। प्रत्येक देशवासी इस बात का ध्यान रखे कि उसका कोई कार्य देशहित की बातों में बाधक न हो। वह कोई ऐसा कार्य न करे जिससे देश की निन्दा हो और उसकी उन्नति में बाधा पड़े। प्रत्येक देशवासी को अपना चरित्र ऐसा बनाना चाहिए जिसके कारण सारा देश उस पर गर्व कर सके। व्यक्ति की उन्नति देश की उन्नति है और देश की उन्नति में व्यक्ति की उन्नति छिपी हुई है।

स्वदेश-प्रेम

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'

मनुष्य जहाँ रहता है उस स्थान से प्रेम करता है। यह प्रेम मनुष्य में ही नहीं है वरन् पशु-पक्षियों में भी होता है। गाय को खूँटे से और घोड़े को अस्तबल से प्रेम होता है। पक्षी भी सारा दिन आकाश में चक्कर लगाकर शाम को अपने घोंसले में लौट आते हैं। अपने घर का बड़ा आकर्षण होता है। अपना टूटा फूटा घर भी राजमहल से अधिक प्रिय मालूम होता है। किसी ने ठीक कहा है—

जननी, जनक, भ्रात, भगिनी रहती जहाँ,
पुण्य भूमि उसके समान जग में कहाँ?
अमृत तुल्य निज घर का दल-फल नीर है,
महलों से बढ़कर निज शांति-कुटीर है।

स्वदेश हमारा विस्तृत घर है। स्वदेश-प्रेम स्थान-प्रेम का एक रूपांतर ही है। स्वदेश-प्रेम के अंतर्गत बहुत सी बातें आती हैं। जैसे अपनी भाषा से प्रेम, अपने रीति-रिवाजों से प्रेम, अपने देश की बनी वस्तुओं से प्रेम और सबसे बढ़कर अपने देश की स्वतंत्रता से प्रेम।

स्वदेश-प्रेम स्वाभाविक ही नहीं है वरन् उसका नैतिक महत्त्व भी है। इसके अरिरिक्त स्वदेश-प्रेम के साथ हमारा स्वार्थ भी लगा हुआ है। स्वदेश के ऋण से हम कभी उऋण नहीं हो सकते। हमारा शरीर देश के अन्न से पुष्ट और परिवर्द्धित होता है। हम

देश की भाषा बोलकर मूक से वाचाल बनते हैं। देश की संस्थाओं से लाभ उठाकर हम मूर्ख से विद्वान् कहलाते हैं। देश की जल-वायु से हम जीवित रहते हैं। इस ऋण को हम कभी चुका नहीं सकते। देश की उन्नति में हमारी उन्नति है। देश की शांति में हमारी शांति है। देश की स्वतंत्रता हमारे विकास में सहायक होती है। इसीलिए देश के लिए लोग तन, मन, धन न्योछावर करने को तैयार हो जाते हैं। जिस देश के लोग स्वदेश के हित के लिए अपने हितों का बलिदान करने को तैयार रहते हैं वही देश उन्नत और समृद्धि-शाली होता है। जो लोग अपने हित का बलिदान करते हैं वे चाहे उस बलिदान का पुण्यफल स्वयं न प्राप्त कर सकें किन्तु उनकी पिछली पीढ़ियाँ उसे अवश्य प्राप्त करती हैं। जापान आदि देशों में जो उन्नति दिखाई पड़ती है वह स्वदेश-प्रेम ही का फल है। स्वदेश-प्रेम की आधार-शिला पर ही बड़े-बड़े साम्राज्य खड़े हुए हैं। देश के वीर योद्धा लोग अपने प्राणों की आहुति देकर देश की रक्षा करते चले आये हैं। स्पार्टा के ल्योनीडास (Leonidas) का नाम उसकी देश-भक्ति के ही कारण अमर है। उसने अपने प्राणों की बाजी लगाकर अपने देश की रक्षा की थी। टाड साहब ने राजपूताने का इतिहास लिखते हुए लिखा है कि राजस्थान का कोई ऐसा शहर नहीं है जिसमें कोई न कोई ल्योनीडास न पैदा हुआ हो। महाराणा प्रताप ने स्वदेश-प्रेम के कारण मुगलों की दासता स्वीकार न की और नाना प्रकार के कष्ट उठाये। गोरा और बादल ने चित्तौड़ की रक्षा के लिए लड़ते-लड़ते अपने प्राण समर्पण कर दिए थे। राजपूत योद्धागण रण में पीठ दिखाना नहीं जानते थे, वे प्राण देना ही सीखे थे। राजपूत-रमणियों ने भी स्वदेश-प्रेम का अच्छा परिचय दिया है। लड़ाई में जाते समय वे अपने पतियों से

कह देती थीं कि घर आओ तो विजय-श्री साथ लेकर आना, नहीं तो लौटना मत। एक राजपूत स्त्री कहती है—

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
लज्जेजं तु वयंसिअहु जद भग्गा घर एंतु॥

अर्थात्, हे बहन! अच्छा हुआ जो मेरा पति लड़ाई में मारा गया। यदि भागा हुआ घर लौटता तो मैं सखियों में लज्जित होती।

इन दिनों भी भारत के कितने ही नवयुवक स्वदेश-प्रेम में दीवाने हुए फाँसी के तख्ते पर लटक चुके हैं और कितने जेल को ही अपना घर बना चुके हैं। रूस-जापान-युद्ध में जिस प्रकार जापानी वीरों ने खुशी-खुशी से खाइयों में कूदकर देश की बलि-वेदी पर अपने प्राण समर्पण किये उसे आज भी लोग याद करते हैं। और आज चीनी वीर जिस प्रकार अपने देश के लिए तन, मन, धन न्योछावर कर रहे हैं, वह इतिहास में सदा स्वर्णाक्षरों में लिखा रहेगा।

ये सब उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि लोग स्वदेश-प्रेम के लिए क्या नहीं कर सकते। स्वदेश-प्रेम केवल रण में लड़कर प्राण देने से ही प्रमाणित नहीं होता वरन् प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्थिति के अनुकूल अपने हितों का बलिदान करके स्वदेश-प्रेम का परिचय दे सकता है। स्वदेशी वस्तु, स्वदेशी भाषा और स्वदेशी रहन-सहन को अपना कर लोग बहुत कुछ देश-सेवा कर सकते हैं और स्वदेश-प्रेम का परिचय दे सकते हैं।

स्वदेशी-आन्दोलन

अपने देश से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं को स्वदेशी कहते हैं। पूर्ण स्वदेशी वस्तुएँ वे ही कही जाती हैं जो अपने देश में उत्पन्न हों और जिन के उत्पादन में देश की ही मज़दूरी और देश की ही पूँजी लगी हो। जो वस्तु इस आदर्श के जितने निकट आती है, वह उतनी ही स्वदेशी है। इन वस्तुओं के प्रचार के लिए जनता में उत्तेजना देने का कार्य स्वदेशी-आन्दोलन के नाम से प्रख्यात है। व्याख्यानों द्वारा, लेखों द्वारा, स्वदेशी वस्तुओं के प्रदर्शन द्वारा और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार इत्यादि द्वारा—कई प्रकार से यह कार्य किया जाता है।

भारत में अंगरेज़ी राज्य स्थापित हो जाने के साथ देश में विलायती वस्तुओं का प्रचार बढ़ा। भारतवर्ष में अंगरेज़ों का आगमन व्यापार के लिए ही हुआ था और यह कोई आश्चर्य की बात न थी। जैसे-जैसे इनका अधिकार जमता गया वैसे वैसे इन्होंने अपने व्यापार को बढ़ाया। कुछ दिनों तक लोगों में विलायती चीज़ों का खूब प्रचार हुआ। इसका फल यह हुआ कि देशी कार-बार को बहुत धक्का पहुँचा। इसको देख लोगों में थोड़ी थोड़ी जाग्रति शुरू हुई। स्वामी दयानन्द आदि धर्म-प्रचारकों ने लोगों का ध्यान स्वदेशी की ओर आकर्षित किया। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने भी अपने लेखों और नाटकों द्वारा देश की जाग्रति में कुछ योग दिया। उधर काँग्रेस का जन्म हो जाने से लोगों का ध्यान देश की व्यापारिक दशा की ओर गया और थोड़ा बहुत स्वदेशी का प्रचार होने लगा। सन् १९०५ के बंग-भंग ने स्वदेशी आन्दोलन को एक राजनीतिक रूप दे दिया। उस समय स्वदेशी

को खूब उत्तेजना मिली । बंगाली लोग ही, जो विदेशी अनुकरण में अग्रसर थे, इस में अगुआ हुए । स्वदेशी आन्दोलन देशव्यापी होगया । उसके पश्चात् इसकी जड़ जम गई और स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार राजनीतिक शस्त्र न रहकर सर्व साधारण के हित की बात हो गई । यद्यपि स्वदेशी का प्रश्न एक स्वतन्त्र व्यावसायिक और आर्थिक प्रश्न था तथापि देश में राजनीतिक आन्दोलनों के साथ इस की भी उन्नति हुई । महात्मा गाँधी ने इसको और भी शुद्ध करना चाहा । उन्होंने हाथ से कते सूत के हाथ से ही बुने हुए खादी का प्रचार किया । कोरियों और जुलाहों को लाभ पहुँचाने तथा देश को मशीनों का मुहताज न रखने के लिए उन्होंने खादी के व्यवहार पर ज़ोर दिया । उनके नेतृत्व में स्वदेशी आंदोलन ने खूब उन्नति की । सन् ३१, ३२ में विदेशी कपड़ा बाजारों में मिलना कठिन हो गया था । किन्तु वे खादी का प्रचार यथेष्ट रूप से न कर सके । मशीन से बने हुए सस्ते और सुन्दर कपड़े के प्रलोभन पर लोग विजय न पा सके । इसके अतिरिक्त कुछ लोगों का यह विश्वास भी है कि देश की उन्नति विलायत से स्पर्धा करने वाला कपड़ा बनाने में है । इस लिए वे खद्दर की अपेक्षा देश में बने मिल के कपड़े को अधिक पसंद करते हैं ।

स्वदेशी वस्तु को अपनाने में बहुत लाभ हैं । अपने देश की कच्ची उपज की यहीं पर खपत हो जाती है । इसके कारण हजारों मजदूरों को रोटी मिलती है । देश स्वावलंबी हो जाता है, दूसरों पर निर्भर नहीं रहना पड़ता । वर्तमान भारतवर्ष की जो औद्योगिक उन्नति हुई है और हो रही है वह स्वदेशी के प्रचार का ही फल है । यदि लोग स्वदेशी के प्रति प्रेम न करते तो शुरू-शुरू में देशी कपड़ा विलायती का मुकाबिला न कर पाता और न देसी मिलें इतनी उन्नति

कर सकतीं । अब तो स्वदेशी कपड़ा इतना उत्तम बनने लगा है। कि उसके खरीदने में रुचि का बलिदान नहीं करना पड़ता। केवल कपड़े में ही उन्नति नहीं हुई वरन् सभी चीजों के निर्माण में भारतवासियों ने अपने कौशल का परिचय दिया है । बंगाल में प्रायः सभी विलायती दवाइयाँ बनने लगी हैं । मैसूर का साबुन यूरोप के बढ़िया साबुनों की बराबरी कर रहा है। काँच का सामान भी बहुत अच्छा बनने लगा है । और अब तो बिजली के पंखे, बल्ब, रिबन, कार्बन पेपर और सिलाई की मशीनें भी बननी प्रारंभ हो गई हैं और सुना है मोटरकार बनाने का कारखाना भी खुलने वाला है । स्वदेशी के प्रचार से हमारी पराधीनता घट जाती है और आत्मगौरव की वृद्धि होती है। दूसरे देश की बनी हुई वस्तु पर हमें गौरव नहीं हो सकता।

स्वदेशी के विरुद्ध यह कहा जाता है कि हम देश-भक्ति में मँहगी वस्तु क्यों खरीदें और अपनी आर्थिक हानि क्यों करें ? यह बड़ा संकुचित दृष्टि-कोण है। स्वदेशी से जो देश की समृद्धि होती है उसका सुप्रभाव प्रत्येक देशवासी पर पड़ता है। देश का धन देश में रहने के कारण देश की सभी बातों में उन्नति हो सकती है। निर्धनता और बेरोज़गारी ही सब अशान्ति का मूल हैं। सरकारी नौकरी से सब का पेट नहीं भर सकता । स्वदेशी के प्रचार से व्यवसाय की उन्नति होगी; व्यवसाय की उन्नति से बेकारी कम होगी और अशान्ति दूर होगी।

स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार देश की उन्नति के लिए परम आवश्यक है। इस से देश धनवान और समृद्धिशाली होगा। लोगों में आत्मनिर्भरता, आत्म-सम्मान और आत्म-गौरव बढ़ेगा।

अछूतोद्धार

आजकल भारतवर्ष में अछूतोद्धार आन्दोलन बड़े ज़ोर से चल रहा है। अछूतोद्धार आन्दोलन के विषय में कुछ लिखने से पहले इस बात की विवेचना करना आवश्यक है कि अछूत कौन हैं, वे अछूत कैसे बने और उन्हें अछूत किसने बनाया।

"अछूत" संज्ञा से पुकारे जाने वाला मनुष्य-समुदाय परमात्मा की दृष्टि में तो अन्य पुरुषों के समान ही है, लेकिन मनुष्य-समाज में ज्यों-ज्यों ऊँच-नीच और छोटे-बड़े के भाव पैदा होते गये, समाज ने छोटे और नीच कहे जाने वालों को अपने से अलग कर दिया और उनके सामाजिक अधिकारों को छीन लिया। फल यह हुआ कि ऐसे लोगों का समाज अलग ही संगठित हो गया और उच्च श्रेणी के लोग इस समाज को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। इस रोग का आक्रमण विशेष कर हिन्दू-जाति पर ही हुआ। वैसे तो अन्य जातियों में भी छोटे बड़े और ऊँच-नीच के भाव मौजूद हैं, लेकिन उन्होंने छोटे अथवा नीच लोगों की सामाजिक स्वतंत्रता को इस हद तक नहीं छीना।

भारत में हिन्दुओं की संख्या लगभग साढ़े बाईस करोड़ है। इन में से लगभग ६ करोड़ अछूत हैं। निम्नलिखित लोगों की गणना अछूतों में की जाती है—चमार, भंगी, जुलाहे, कबीरपंथी, रैदासी, डोम, महार, मेव इत्यादि। ये लोग भारतवर्ष के प्रत्येक प्रांत में पाये जाते हैं और हिन्दू जाति के उच्च कहलाने वाले लोग इन्हें घृणा की दृष्टि से देखते हैं। वे इन्हें अपने समान सामाजिक-स्वतंत्रता देना पाप समझते हैं। इन्हें कुओं से पानी नहीं लेने देते,

मन्दिरों में प्रविष्ट नहीं होने देते, स्कूलों में शिक्षा ग्रहण करने में रुकावटें डालते हैं तथा अन्य सामाजिक व्यवहारों में बाधाएँ उपस्थित करते हैं। इस प्रकार अछूत कहे जाने वाले लोग सदियों से इन आपत्तियों का सामना करते आ रहे हैं। ये बेचारे अब तक बिना चूँ-चाँ किये इन बातों को स्वीकार करते रहे। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द ने इस कलंक के टीके को मिटाने का सब से पहले बीड़ा उठाया। स्वामी दयानन्द ने अछूतों की शुद्धि की व्यवस्था की और आर्यसमाज ने तदनुसार लाखों को शुद्ध करके उन्हें पुनः हिन्दू-समाज में शामिल किया।

हिन्दू-समाज के उच्च आत्माभिमानी लोगों ने पहले तो इस आन्दोलन का घोर विरोध किया, लेकिन अब वे भी इस भूल का अनुभव करने लग गये हैं। अछूत कहे जाने वाले हिन्दू तो थे ही, अन्तर केवल इतना था कि इन्हें हिन्दू रहते हुए भी अन्य हिन्दुओं के से सामाजिक-अधिकार प्राप्त न थे। हिन्दू-जाति अब इस बात का अनुभव करने लग गई है कि छूताछूत का प्रश्न जातीय-जीवन के लिए विष तुल्य है।

जिस जाति में छूताछूत का प्रश्न रहता है, वह कभी उन्नति नहीं कर सकती, क्योंकि इस की विद्यमानता में जातीय जीवन संगठित होना असंभव है और संगठन न हो सकने पर उन्नति नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त जो जाति संगठित नहीं, वह अन्य जातियों का मुकाबिला भी नहीं कर सकती। संगठन के अभाव में दूसरी जातियाँ सदा इस ताक में रहती है कि असंगठित जाति को हड़प लिया जाय। हिन्दू जाति के साथ भी ऐसा ही व्यवहार हुआ है। हिन्दू-समाज ने जिन्हें अछूत कह कर अलग कर रक्खा था, उन्हें अन्य जातियों ने खूब अपनाया और करोड़ों की संख्या में

अछूत नाम से पुकारे जाने वाले हिन्दू उनमें शामिल हो गये। इस तरह हिन्दू-जाति की शक्ति भी शिथिल होती गई।

महात्मा गांधी तथा महामना मालवीय सरीखे हिन्दू-नेताओं ने अब इस त्रुटि का अनुभव किया है और इसे दूर करने के लिए आंदोलन प्रारंभ किया है। आर्यसमाज तथा अन्य सुधारक संस्थाओं की निरन्तर चेष्टाओं का आज यह फल हुआ है कि सर्वसाधारण भी इस बात का अनुभव करने लग गये हैं कि वास्तव में अछूतपन हिन्दू-जाति के लिए अपमान की बात है। महात्मा जी ने छूताछूत के प्रश्न को मिटा देने के लिए प्राणों तक की बाजी लगा दी है, जिसका हिन्दुओं पर विशेष प्रभाव पड़ा है। जिन अछूत कहे जाने वालों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था आज उन्हें कुओं से पानी लेने, मन्दिरों में प्रविष्ट होने तथा स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करने के लिए स्वयं हिन्दू लोग आमंत्रित कर रहे हैं। यह प्रश्न पहले जितना कठोर था, उतना ही अब ढीला हो गया है और यह हिन्दू-जाति के लिए सौभाग्य की बात है

विधवा-विवाह

जिन स्त्रियों के पति की मृत्यु हो जाय, उन्हें विधवा कहते हैं और पुनः पति-ग्रहण की क्रिया को 'विधवा-विवाह' कहा जाता है। विधवा-विवाह उचित है या अनुचित इस विषय पर भारतवर्ष में बहुत दिन से विवाद होता आ रहा है। कोई इसके पक्ष में है तो कोई विरुद्ध। परन्तु देखना यह चाहिए कि जिस काम को हम करने जा रहे हैं, वह देश और काल के अनुसार है या नहीं। यदि देश-काल

के अनुसार कोई काम उचित प्रतीत हो, तो उसे कार्यरूप में परिणत न करना भूल है। शास्त्रीय विचारों के विवाद में न पड़ कर हमें वर्तमान समय को दृष्टि-कोण में रखते हुए ही इस विषय पर विचार करना है।

सन् १९२१ की मनुष्य गणना के अनुसार भारत में २० लाख के लगभग बाल-विधवाएँ हैं। यदि इनमें युवतियाँ भी शामिल कर दी जायँ, तो इनकी संख्या ७० लाख के लगभग पहुँचती है। बाल-विधवाओं में उन अभागिनी अबलाओं की गणना है, जिनके विवाह बाल्यावस्था में ही हुए और जिनके पतिदेव बाल्यावस्था में ही मृत्यु के ग्रास बन गये। इन अभागिनी देवियों को पतिदेव की मृत्यु के बाद आजीवन वैधव्य की नरक-यातना भोगनी पड़ती है। ऐसा क्यों होता है? इसका कारण अभी तक निश्चित रूप से निर्धारित नहीं हो सका। हाँ, यह अवश्य सुनने में आता है कि यह प्रथा चिरकाल से चली आरही है, इसीलिए अब इसका पालन करना चाहिए।

बेचारी विधवाओं के लिए इससे भी भयंकर दंड एक और था जो 'सती दाह' कहा जाता था। इस दंड के अनुसार पति की मृत्यु हो जाने पर पत्नी को भी पतिदेव की चिता में जीते जी जला दिया जाता था। इस अत्याचार को रोकने के लिए राजा राममोहन राय ने आन्दोलन किया और फलतः इस प्रथा को उठा देने के निमित्त कानून बनाया गया। हर्ष की बात है कि अब इस अत्याचार का अन्त हो चुका है। परन्तु अभी विधवाओं की दशा में यथेष्ट परिवर्तन नहीं हुआ।

भारतवर्ष में बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह और बहु-विवाह आदि अनेक बीमारियाँ हैं। इन्हीं बीमारियों के कारण विधवाओं की

संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती रही है। हिन्दू समाज इन रोगों से अपने-आप को बचाए रक्खे तो विधवाओं की संख्या कम हो सकती है। इस नवीन युग में भी भारत इन महामारियों का शिकार बना हुआ है। अब भी कन्याओं के माँ-बाप धन के लोभ से वृद्धों के साथ १४-१४, १५-१५ वर्ष की कन्याओं का विवाह कर डालते है। परिणाम यह होता है कि पूर्ण युवावस्था में पदार्पण करते ही कन्याएँ विधवा हो जाती हैं। वृद्ध-पति तो अपनी जीवन-लीला समाप्त कर जाते हैं, परन्तु बेचारी विधवा जीवन भर रोती रहती है।

विवाह का उद्देश गृहस्थाश्रम रूपी गाड़ी का नियंत्रण करना है। गृहस्थाश्रम प्रेममय सहयोग द्वारा धार्मिक जीवन व्यतीत करने और सन्तानोत्पत्ति द्वारा वंश चलाने के लिए है। परन्तु देखा जाता है कि पुरुषों का आचरण प्रायः इसके विरुद्ध ही रहा है। वे स्त्रियों को काम पिपासा शान्त करने का साधन मात्र समझते हैं; और यही इस महामारी का मूल है। स्त्रियों के लिए पुरुष-समाज ने ऐसे नियम बना दिए हैं कि वे पति की मृत्यु के पश्चात् दूसरा विवाह नहीं कर सकतीं, परन्तु दूसरी ओर यह न सोचा कि पुरुषों पर भी तो कोई नियम लागू होना चाहिए। पुरुष को एक पत्नी की मृत्यु के बाद पुनर्विवाह करने का अधिकार प्राप्त है, लेकिन स्त्री को नहीं। पुरुष चाहे वृद्ध हो, अशक्त हो और चाहे जैसी हीन अवस्था में क्यों न हो वह दूसरा, तीसरा, चौथा, या जितने चाहे विवाह कर सकता है, पर स्त्रियाँ अगर ऐसा करेंगी, तो समाज उनके लिए रुद्र रूप धारण कर लेगा। यह अन्याय नहीं तो क्या है? जिन कन्याओं के माँ-बाप ने धन के लोभ से उनके विवाह किए, जिन कन्याओं के माँ-बाप ने बाल्यावस्था में ही उनकी शादियाँ कर

दीं, यदि वे कन्याएँ असमय में ही अपना सुहाग खो बैठती हैं तो इसका दोषी कौन है? इसके दोषी माँ-बाप हैं, न कि कन्याएँ। भला फिर उस अवस्था में उन बेचारी निरपराध विधवाओं का विवाह क्यों न होना चाहिए? यदि समाज नहीं करने देता तो अत्याचार करता है।

यदि विधवा-विवाह को हम सर्वथा तिलांजलि दे बैठें और इसका बहिष्कार कर दें, तो भयंकर परिणाम होगा। गुप्त रूप से व्यभिचार बढ़ेगा और इससे देश और जाति को भारी क्षति पहुँचेगी। समाज का नियन्त्रण छिन्न-भिन्न हो जायगा। देश और जाति को इससे बचाए रखने के लिए विधवा-विवाह पर से नियन्त्रण उठा लेना आवश्यक है। जो स्त्रियाँ अपना जीवन संयमपूर्वक व्यतीत करना चाहें वे विवाह न करें, किन्तु जो संयम-पूर्वक रहने में असमर्थ हैं उनके लिए विवाह कर लेना श्रेयस्कर है।

सौभाग्य की बात है कि स्वर्गीय ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी दयानन्द तथा अन्य कई समाज-सुधारकों के अनथक परिश्रम से अब कहीं-कहीं विधवा-विवाह होने लगे हैं। स्वर्गीय सर गंगाराम आदि के प्रयत्न और दान से कुछ स्थानों पर विधवा-विवाह-सहायक सभायें भी स्थापित हो गई हैं। पर अभी शिक्षित समाज में ही इसका कुछ प्रचार शुरू हुआ है। पुराने विचारों के हिन्दू अभी तक इससे नाक भौं चढ़ाते हैं और उनके विचारों को बदलने के लिए अभी काफी प्रचार और परिश्रम की आवश्यकता है।

बाल-विवाह

भारतवर्ष धर्म-प्रधान देश है। इस देश में धर्म मनुष्य के सारे जीवन पर शासन करता है। विद्याध्ययन, विवाह, व्यापार आदि सभी धर्म के अंग बन जाते हैं। धर्म का पालन जब तक विचार-पूर्वक होता है तब तक तो वह अपने असली रूप में बना रहता है, किन्तु जब उसके अनुयायियों के मानसिक शैथिल्य के कारण विचार का ह्रास होने लगता है तब उसमें कूड़ा करकट शामिल होने लगता है। यह कूड़ा करकट अन्ध परंपरा का सहारा लेकर धर्म का आवश्यक अंग बन जाता है और धर्म के असली तत्त्व को छिपा लेता है। बाल-विवाह भी इसी मानसिक शैथिल्य और अंध-परंपरा पर बने हुए रूढिवाद का एक उदाहरण है।

हिन्दू धर्म के अनुसार गृहस्थ आश्रम सब आश्रमों में प्रधान माना गया है, और इसका पालन करने के लिए विवाह एक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण संस्कार माना गया है। चौबीस वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचर्य धारण कर मनुष्य गृहस्थजीवन में प्रवेश करने का अधिकारी बनता था, क्योंकि पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत धारण किये बिना मनुष्य गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्व-पूर्ण जीवन का भार लेने की शक्ति प्राप्त नहीं कर सकता और न वह बल, बुद्धि और तेज से सम्पन्न सन्तति ही उत्पन्न कर सकता है। पर लोग धीरे-धीरे ब्रह्मचर्य के कठिन व्रत वाले नियम का बन्धन शिथिल करने लगे और जहाँ एक बार पतन का मार्ग लिया वहाँ पूर्ण अधोगति को प्राप्त हुए बिना वह क्रम रुकता नहीं है। विवाह संस्कार की जड़ तो

शिथिल हो गई और धार्मिक संस्कार का ऊपरी दिखावा रह गया। मुसलमान शासन के समय में धर्म और सतीत्व की रक्षा के निमित्त बाल-विवाह को उत्तेजना मिलने लगी, क्योंकि वे विवाहिता स्त्री पर कम हाथ डालते थे। मुसलमानों का शासन उठ जाने पर भी वह प्रथा उसी रूप में बनी रही, क्योंकि वह 'अष्टवर्षा भवेद् गौरी' आदि के धार्मिक बन्धनों में जकड़ी जा चुकी थी। फल यह हुआ कि अबोध बालक-बालिकाओं का विवाह होने लगा। वह जीवित मनुष्यों का विवाह नहीं वरन् गुड्डी गुड्डों का विवाह हो गया।

इस प्रकार के विवाह से जो हानियाँ होती हैं वे स्पष्ट ही हैं। हमारे देश में जो शारीरिक शक्ति का ह्रास दिखलाई पड़ता है वह इसी कुप्रथा का फल है। लोग युवा होने से पूर्व ही माता पिता बन जाते हैं। इस से माता पिताओं की शारीरिक शक्ति का ह्रास तो होता ही है, उनकी सन्तान का भी पूर्ण विकास नहीं हो सकता। जल्दी विवाह हो जाने के कारण लड़के लड़कियाँ अपनी शिक्षा भी यथेष्ट रूप से पूरी नहीं कर पातीं। विवाह हो जाने पर बालिकाओं के पठन-पाठन की तो इतिश्री हो ही जाती है, लड़के भी विवाह के कारण अपने को भार-ग्रस्त समझने लगते हैं और उनका पढ़ने-लिखने में जी नहीं लगता। बालविवाह के कारण बालिकाओं का जीवन तो विशेष रूप से दुःखमय हो जाता है। छोटी उम्र में ही उनकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है और सास-ससुर के कठिन शासन में पड़कर वे स्वास्थ्य खो बैठती हैं। बालिकाओं के पति शिक्षा प्राप्ति के लिए घर से बाहर रहते हैं। अतः बालिकाएँ पति की स्वाभाविक सहानुभूति का लाभ नहीं उठा सकतीं। यह ठीक है कि सब सास-ससुर हृदय-शून्य नहीं होते, किन्तु समाज में ऐसे लोगों की कमी नहीं है। हृदय-हीन परिवार

के शासन में पड़ कर बिचारी बालिकाएँ बालोचित क्रीड़ा-कौतूहल, हासोल्लास और पठन-पाठन के लाभों से वंचित रह जाती हैं और विकास के पूर्व ही वे कोमल बालिकाएँ मुरझा जाती हैं।

बाल-विवाह के कारण बहुत से अनमेल विवाह हो जाते हैं और बड़े हो जाने पर बालक बालिकाएँ अपने माता पिता को कोसती हैं। उस समय पति-पत्नी अपने विवाह के उत्तरदायित्त्व को भी पूर्णतया स्वीकार नहीं करते। कम से कम पतिदेव तो कह ही देते हैं कि यह उनका चुनाव नहीं है, माता पिता का चुनाव है, इसके लिए वे ही उत्तरदायी हैं। ऐसे हृदयशून्य पतियों की भी कमी नहीं है जो अपनी रुचि के अनुकूल दूसरा विवाह कर अपनी पूर्व पत्नी का जीवन सदा के लिए दु:खमय बना देते हैं। उसके साथ उपेक्षा का ही व्यवहार नहीं होता वरन् वह अपमानित भी होने लगती है।

बाल-विवाह से बाल-विधवाओं की संख्या भी बढ़ती है। जहाँ पर कि तीन या चार वर्ष की अवस्था में ही बालक-बालिकाएँ विवाह-सूत्र में बाँध दी जाती हैं, वहाँ यदि दैव की अकृपा से पत्नी का सौभाग्य सिन्दूर नष्ट हो जाय तो उसका सारा जीवन ही दुख-मय हो जाता है। भारतवर्ष में ऐसी विधवाओं की संख्या कम नहीं है। स्त्री के मरने पर मनुष्य तो दूसरा विवाह कर ही लेते हैं, पर स्त्रियों का तो सारा जीवन ही अन्धकारमय हो जाता है क्योंकि हिन्दू समाज में विधवा-विवाह का अभी इतना प्रचार नहीं हुआ। कितनी ही बाल-विधवाएँ युवावस्था में आकर सांसारिक प्रलोभनों में फँस कर अपना जीवन कलंकित कर लेती हैं। इसलिए बाल-विवाह हिन्दू-समाज का सब से बड़ा कलंक है।

शिक्षा के प्रचार से बाल-विवाह की प्रथा उठती जाती है और शारदा ऐक्ट भी इस प्रथा को कम करने में योग दे रहा है। इस

विषय में समाज की मनोवृत्ति बदलने की अधिक आवश्यकता है। माता-पिताओं को चाहिए कि वे अपनी संतान के हित को ध्यान में रखते हुए अपने सुख और सन्तोष के लिए अपने बच्चों के विवाह में जल्दी न करें। देशी राज्य अब भी बाल-विवाह की रूढ़ि के गढ़ बने हुए हैं। भारतीय नरेशों को भी चाहिए कि वे अपनी प्रजा के हित का ध्यान रखते हुए अपने यहाँ बाल-विवाह को रोकने के लिए शारदा ऐक्ट के समान कोई कानून बनावें।

हिन्दू समाज और उसकी त्रुटियाँ

हिन्दू समाज कुरीतियों का केन्द्र जा सकता कहा,
ध्रुव धर्म पथ में कुप्रथा का जाल सा है बिछ रहा।
सुविचार के साम्राज्य में कुविचार की अब क्रान्ति है,
सर्वत्र पद पद पर हमारी प्रकट होती भ्रांति है।

—भारत-भारती

भूमिका भारतवर्ष में अधिकांश जनसंख्या हिन्दू लोगों की है। जिस प्रकार देश के विचार से हिन्दू जाति सब से अधिक व्याप्त है उसी प्रकार काल के सम्बन्ध से सब से अधिक प्राचीन भी है। इस कारण इस जाति के लोगों में नाना प्रकार की विचार-धाराएँ और नाना प्रकार की प्रथाएँ वर्तमान हैं। इन विचार-धाराओं और प्रथाओं में कुछ ऐसी हैं जो बहुत प्राचीन होती हुई भी बहुत उपयोगी हैं और कुछ ऐसी हैं जो परिस्थितियों के बदल जाने से अब अनुपयोगी हो गई हैं। बहुत सी प्रथाएँ ऐसी भी हैं जिनका असली रूप बदल गया

है और इस बदले हुए रूप में उनका सारा तत्त्व जाता रहा है। ऐसे प्राचीन समाज में कुरीतियों और त्रुटियों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इन त्रुटियों का बहुत अंश में निराकरण भी होता जा रहा है, किन्तु जहाँ पर शिक्षा का प्रकाश पूरी तौर से नहीं पहुँचा है और विचार की अपेक्षा परंपरा और रूढ़ि का अधिक आदर है वहाँ पर वे अब भी अपने भीषण रूप में वर्तमान हैं। इन त्रुटियों में से कुछ एक का उल्लेख यहाँ किया जाता है।

जाति पाँति संबंधी मतभेद

हिन्दू समाज में जाति पाँति का विचार वर्ण-व्यवस्था के आधार पर चला है। वर्ण-व्यवस्था का मूल तत्त्व प्रेम और सहकारितापूर्ण कार्य-विभाग में है। वर्ण-विभाग से वंश-क्रमानुगत कौशल का लाभ उठाकर लोग अपने अपने कार्य में अधिक निपुणता प्राप्त कर सकते थे। लुहार का लड़का जितनी जल्दी लोहे का काम सीख सकता है उतनी जल्दी दूसरा लड़का, जब तक विशेष प्रतिभावान न हो, नहीं सीख सकता। इसके अतिरिक्त इस वर्ण-व्यवस्था ने हिन्दू धर्म की बड़ी रक्षा की है। इसी कारण लोग अन्य धर्म स्वीकार करने से बचे रहे हैं। प्राचीन समय में वर्ण-व्यवस्था ने जातीय संगठन में बहुत कुछ योग दिया है। किन्तु धीरे-धीरे लोग इस वर्ण-व्यवस्था का वास्तविक उद्देश्य भूल गये और उसकी ऊपरी रूढ़ियों को पकड़े रहे। अतः जो वर्ण-व्यवस्था पहले कार्य-विभाग पर आश्रित थी वह अब केवल जन्म पर आश्रित रह गई। जब ब्राह्मण का बेटा ही ब्राह्मण कहलाने लगा तो उन्होंने अपना मुख्य कार्य पढ़ना-पढ़ाना तो छोड़ दिया, केवल हुंदे माँगना, ऊट-पटाँग कुछ बोलकर विवाह आदि संस्कार कराना और दक्षिणा लेना ही उनका काम रह गया। धीरे-धीरे जाति और उपजातियों का

प्रकार की छोटी मोटी कुछ और बुराइयाँ भी है, पर अब कुछ समाज सुधारकों के प्रयत्न से और कुछ पश्चिमी सभ्यता के संपर्क से धीरे-धीरे वे बुराइयाँ दूर हो रही हैं। ईश्वर वह दिन जल्दी लावे जब इनका बिलकुल अन्त हो जावे।

भारतवर्ष के लिए एक राष्ट्र-भाषा और एक राष्ट्र-लिपि

राष्ट्र के लिए दो बातें आवश्यक मानी गई हैं। एक भूगोल सम्बन्धी एकता और दूसरा सम्मिलित राजनीतिक हित। भारतवर्ष में दोनों बातें होने के कारण उसके राष्ट्र होने में कोई सन्देह नहीं है। इसी के साथ वह बात भी निर्विवाद रूप से मानी जाती है कि राष्ट्र के लिए एक भाषा और एक लिपि आवश्यक है। इसके बिना न जातीय संगठन हो सकता है, और न एक-सूत्रता आ सकती है। देश में एक सूत्र पर काम चलाने के लिए एक व्यापक भाषा चाहिए, जिसको सब लोग समझ सकें। शासन की सुविधा के लिए भी यह आवश्यक है कि जो भाषा जन-साधारण में बोली जाती हो उसी में कानून बनें और सारे देश में एक ही क़ानून होने के लिए एक व्यापक भाषा भी चाहिए। केवल शासन के सुभीते के लिए ही एक राष्ट्र भाषा की आवश्यकता नहीं है वरन् ज्ञान और कला कौशल संबंधी सहयोग के लिए भी एक व्यापक भाषा की आवश्यकता है।

विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि राष्ट्र भाषा ऐसी होनी चाहिए जो सुलभ हो और जिसे सब लोग समझ सकें। दूसरी बात राष्ट्र भाषा के लिए यह आवश्यक है कि उसके द्वारा राजकीय तथा

विज्ञान और कला-कौशल सम्बन्धी लिखा पढ़ी अच्छी तरह हो सके। राष्ट्र भाषा के लिए यह भी आवश्यक है कि उसमें उन्नति की गुंजाइश होते हुए भी थोड़ी स्थिरता हो अर्थात् उसके शब्दों का साधारण आकार प्रकार निश्चित हो गया हो (यह न हो कि वह भाषा बनावट की ही अवस्था में हो) और उसमें थोड़ा लचीलापन भी हो अर्थात् आवश्यकताओं के अनुकूल उसमें नये शब्द बन सकें और दूसरी भाषाओं के शब्द हज़म हो सकें।

राष्ट्र-लिपि के लिए निम्न लिखित बातें आवश्यक हैं।

१. वह आसानी से सीखी जा सके।

२. उसमें जो लिखा जाए वही पढ़ा जाए। उसमें सब भाषाओं के शब्द लिखे जा सकें।

३. वह जल्दी लिखी जा सके।

अब प्रश्न यह होता है कि ऐसी भाषा कौन सी है जिस में ऊपर के गुण पाए जाते हैं। इस समय देश में दो ही भाषाएँ व्यापक भाषाएँ कही जा सकती हैं। एक अंगरेजी और दूसरी हिन्दी या हिन्दुस्तानी जिसमें उर्दू भी शामिल है। शेष बँगला, मराठी आदि भाषाएँ अपने-अपने प्रांत तक ही सीमित हैं। यद्यपि अंगरेजी भाषा भारत के सब प्रान्तों में व्यवहृत होती है तथापि उसका व्यवहार पढ़े लिखे लोगों में ही है, साधारण लोगों में नहीं। लोग हाई स्कूल की परीक्षा पास कर लेने पर भी उसका व्यवहार करना नहीं जानते। ग्रेजुएट होकर भी उस पर पूरी तौर से प्रभुत्व नहीं प्राप्त किया जा सकता। कारण यह है कि वह हमारे लिए एक दम विदेशी भाषा है। और केवल विदेशी राज्य होने के कारण ही हम पर ठूँसी जा रही है। हिन्दी भाषा देश के अधिकतर भाग में बोली और समझी जाती है। पंजाब, बंगाल, गुजरात और महाराष्ट्र की भाषाओं

से वह इतनी मिलती जुलती है कि वहाँ के लोग इस को थोड़े ही प्रयत्न से सीख सकते हैं। मद्रास के लोग भी इसको सुगमता के साथ सीख लेते हैं। इसलिए हिन्दी पढ़े लिखे लोगों की ही नहीं वरन् अनपढ़ लोगों की भाषा भी बन सकती है। राष्ट्र भाषा ऐसी ही हो सकती है जो शिक्षित और अशिक्षित सब में समानरूप से समझी और बोली जा सके।

हिन्दी भाषा में स्थिरता के साथ लचीलापन भी है। वह भारतवर्ष में प्राय: एक हजार वर्ष से वर्तमान है और उसका रूप घुट-मँज गया हैं। उसमें वर्तमान भाषाओं के सब गुण हैं। विभक्तियाँ बनाने के लिए उसमें शब्दों के रूप बदलने नहीं पड़ते इसलिए अन्य भाषाओं के शब्द उस में अच्छी प्रकार खप जाते हैं। ऊपर हमने जो कुछ लिखा है वह बोलचाल की भाषा के लिए लिखा है। बोलचाल की हिन्दी और उर्दू में कुछ भी अन्तर नहीं। दोनों की क्रियाएँ और विभक्तियाँ बिलकुल एक सी हैं। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि हिन्दी अपना शब्द कोष संस्कृत से लेती है और उर्दू फारसी से। साहित्यिक हिन्दी में संस्कृत के शब्दों की अधिकता होगी और साहित्यिक उर्दू में फारसी की। इसलिए भारत की बोल चाल की भाषा (Lingua franca) का तो कोई झगड़ा नहीं, वह तो ऐसी ही भाषा होगी जिसमें न अधिक संस्कृत के शब्द हों और न अधिक फारसी के। उसको चाहे हिन्दी कह लें चाहे उर्दू कह लें और चाहे हिन्दुस्तानी कह लें।

साहित्यिक भाषा और लिपि का प्रश्न ज़रा कठिन है। पर उस के लिए उर्दू की अपेक्षा हिन्दी अधिक उपयुक्त है। कारण यह है कि उर्दू भारत की अन्य भाषाओं—गुजराती, मराठी,

पंजाबी और बँगला आदि के इतना निकट नहीं है जितना कि हिन्दी। हिन्दी के समान ये सब भाषाएँ भी अपनी शब्दावली संस्कृत से ही लेती हैं। लिपि के बारे में तो यह मानना ही पड़ेगा कि देवनागरी लिपि ही भारत के लिए सब से अधिक उपयुक्त है क्योंकि वह फारसी और अंगरेज़ी लिपि की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। उसमें अधिक से अधिक ध्वनियाँ हैं तथा ध्वनियों का पूर्ण विश्लेषण कर लिया गया है। एक ध्वनि के लिए एक ही चिह्न (अक्षर) है। अंगरेज़ी की भाँति इस में 'जी' (g) 'ज' और 'ग' की ध्वनि नहीं देता और न 'सी' (c) से 'स' और 'क' की ध्वनि निकलती है। फारसी की तरह इसमें एक ध्वनि के लिए बहुत से अक्षर भी नहीं हैं। जैसे 'त' के लिए 'तोय' और 'ते' तथा 'स' के लिए 'सीन' और 'स्वाद'। इसके सिवाय देवनागरी लिपि भारत की अन्य भाषाओं बँगला, गुजराती, मराठी, पंजाबी आदि की लिपियों से इस बारे में भी मिलती है कि सब की वर्णमाला एक ही है। केवल अक्षरों के रूप में ही ज़रा-ज़रा अन्तर है। मराठी और देवनागरी लिपि तो हैं ही एक, इन दोनों में किसी प्रकार का भी अन्तर नहीं है। इसलिए इन सब प्रान्तों के निवासी फारसी की अपेक्षा देवनागरी लिपि को बहुत जल्दी अपना सकते हैं। इन सब कारणों से हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि ही भारतवर्ष की राष्ट्र भाषा और राष्ट्र लिपि होने की योग्यता रखती हैं।

पंजाब में हिन्दी-प्रचार के साधन

जातीय संगठन और एक-सूत्रता के लिए देश में एक राष्ट्रभाषा का होना परम आवश्यक है। आजकल बहुमत से हिन्दी राष्ट्र-भाषा मानी जाती है। मद्रास ऐसा प्रान्त है जिस की बोलियाँ हिन्दी भाषा से सर्वथा भिन्न हैं, परन्तु वह भी हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के रूप में अपना रहा है। पंजाबी का तो हिन्दी से—विशेष कर खड़ी बोली से एक प्रकार का कौटुंबिक सम्बन्ध है। और यहाँ के अधिकांश भाग में हिन्दी भाषा समझी भी जाती है। इन सुभीतों के होते हुए भी पंजाब में हिन्दी का प्रचार इतना व्यापक नहीं हो रहा, जितना कि होना चाहिए। इस के कई कारण हैं।

मुसलमान लोग अपने धर्म के नाते उर्दू भाषा और उर्दू (फारसी) लिपि को अपनाते हैं।

सिक्ख लोग भी अपने धर्म के नाते गुरुमुखी को अपनाते हैं। वैसे उनके धर्म ग्रन्थों का हिंदी से विशेष संबंध है, क्योंकि गुरुवाणी प्रायः पुरानी हिंदी में ही है; केवल लिपि का भेद है। पंजाब के हिंदू हिंदी के पक्ष में तो अवश्य हैं, किंतु कुछ आलस्य-वश और कुछ परंपरा के कारण अथवा अदालत तथा अन्य सरकारी दफ्तरों की भाषा उर्दू होने के कारण वे भी उर्दू का ही व्यवहार करते हैं।

पंजाब में हिंदी भाषा के प्रचार का बहुत कुछ प्रयत्न हो रहा है, और उस में किसी अंश तक सफलता भी हुई है। किंतु अभी प्रचार व्यापक रूप से नहीं हुआ है। प्रचार को जनता में व्यापक बनाने के लिए विशेष उद्योग की आवश्यकता है। पंजाब युनि-

वर्सिटी की हिंदी परीक्षाएँ हिंदी के प्रचार में बहुत कुछ योग दे रही हैं किंतु उनका प्रभाव अब तक बालक-बालिकाओं में ही सीमित है। कार-बार करने वाले लोगों पर उनका असर कम है। जनता में हिंदी का प्रचार करने के लिए निम्नलिखित साधनों की आवश्यकता है।

समाचार पत्र समाचार पत्र जनता की रुचि को बदलने में बहुत सहायक होते हैं। अभी तक पंजाब में हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की संख्या बहुत थोड़ी है। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि उनके पढ़ने वाले कम हैं। जनता की रुचि बदलने के लिए थोड़े बलिदान की आवश्यकता है। कम से कम धार्मिक पत्रों को तो हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि अपनानी चाहिए। प्रारंभ में उनको चाहिए कि वे कुछ लेख उर्दू में रक्खें और कुछ हिंदी में। हिंदी के विषयों को अधिक रोचक बनाने की कोशिश करें। कम मूल्य अर्थात् एक पैसे के दैनिक अखबार निकाले जावें जिस से साधारण स्थिति के लोग भी उनको खरीद सकें और उन्हें पढ़ने का उद्योग करें। दैनिक हिन्दी-मिलाप जनता की अच्छी सेवा कर रहा है, किन्तु उसको व्यापक बनाने की आवश्यकता है।

सस्ता साहित्य जनता की रुचि के अनुकूल सस्ता साहित्य निकालने से भी हिन्दी के प्रचार में बहुत कुछ सहायता मिलेगी। हमको ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो जनता की रुचि के साथ-साथ चलता हुआ उसको सुधारने का उद्योग करे और उसमें विनोद के साथ-साथ उपयोगिता का भी थोड़ा-बहुत अंश रहे। प्रचारकों को चाहिए कि ऐसे साहित्य के प्रचार के लिए वे केवल दुकानदारों पर ही निर्भर न रहें वरन्

उन ग्रन्थों को बाज़ारों में सुना-सुना कर लोगों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित करें। ये ग्रन्थ ऐसी सरल भाषा में लिखे हों कि लोग थोड़े ही परिश्रम से उनको पढ़ सकें।

व्याख्यान

हिन्दी साहित्य की उत्तमता का बहुत से लोगों को पर्याप्त ज्ञान नहीं। इसके लिए व्याख्यानों द्वारा जनता की रुचि आकर्षित करना आवश्यक है। उन व्याख्यानों में वर्तमान तथा प्राचीन साहित्य के उत्तमोत्तम अंशों को पढ़ कर सुनाना और उनकी व्याख्या करना आवश्यक है। यदि ऐसे अवसरों पर तुलसीदास कृत रामायण आदि धर्म-ग्रंथों के कुछ भाग संगीत के साथ सुनाये जावें तो जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

स्कूल और पाठशालाएँ

कुछ ऐसे स्कूलों की भी आवश्यकता है जो साधारणतया कार्य में व्यस्त जनता को हिन्दी की शिक्षा दे सकें। साधारण जनता अपना काम-काज छोड़कर स्कूलों या पाठशालाओं में नहीं जा सकती, किन्तु यदि ऐसे स्कूल हों जहाँ लोग फुरसत के समय जा सकें तो वे अपना समय खुशी से दे देंगे।

हिंदी को अदालत की भाषा स्वीकृत करवाना

पंजाब में हिन्दी के प्रचार में सब से बड़ी रुकावट यह है कि अदालत तथा अन्य सरकारी दफ्तरों में हिंदी को स्वीकृत नहीं किया जाता। हिन्दू भी प्रायः इसी लिए अपने बालकों को उर्दू पढ़ाते हैं कि उसके बिना वे अदालत या सरकारी दफ्तरों में काम नहीं कर सकते। यदि उर्दू के साथ-साथ हिन्दी से भी सरकारी दफ्तरों में काम चलने लगे तो हिन्दी का प्रचार बहुत बढ़ जाय और हिन्दू लोग तो प्रायः अपने बालकों को उर्दू पढ़ाना

छोड़ दें। अतः इस कार्य के लिए विशेष आन्दोलन की आवश्यकता है। हिन्दू नेताओं और हिन्दू सभा को इस ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। खेद का विषय है कि पंजाब के हिन्दू नेताओं का ध्यान अभी तक इस ओर ज़रा भी नहीं गया।

सब कार्यों में अगुआ होने के लिए थोड़ा साहस चाहिए। जहाँ एक बार सफलता-पूर्वक कार्य का आरंभ होगया कि प्रचार में देर नहीं लगती। कुछ ऐसे हिन्दी हितैषियों की आवश्यकता है जो जनता में रहकर अपना सब कार-बार हिन्दी में करें। यदि

पत्र-व्यवहार और कार-बार

वे व्यापार करें तो अपना बहीखाता हिन्दी में रखें तथा पत्रव्यवहार भी हिन्दी में करें। हिन्दी का प्रचार बढ़ाकर सरकार का भी इस ओर ध्यान दिलावें कि हिन्दी में लिखी हुई अर्जियाँ सरकारी अदालतों में स्वीकृत हों। यह काम तभी हो सकता है जब अधिकांश जनता हिन्दी में काम-काज करने को तैयार हो।

हिन्दी भाषा की सरलता को देखते हुए उसका प्रचार कठिन नहीं प्रतीत होता, किन्तु उसके लिए थोड़े परिश्रम, बलिदान और आंदोलन की आवश्यकता है।

स्त्री-शिक्षा के गुण दोष

यद्यपि ईश्वर के सिवाय सारा संसार गुण-दोष-मय है, तथापि स्त्री-शिक्षा में गुण अधिक हैं और दोष कम। स्त्री-शिक्षा के दोष उन लोगों की दृष्टि में बड़ा रूप धारण कर लेते हैं जो समाज में स्त्रियों को ऊँचा

भूमिका

स्थान नहीं देना चाहते। जब हम यह मान लेते हैं कि "यत्र नार्यस्तु

पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः", तब उनको उचित शिक्षा द्वारा पूजा योग्य बनाना हमारा धर्म हो जाता है। जब हम यह स्वीकार करते हैं कि स्त्रियाँ माता रूप से हमारी गुरु हैं और पत्नी और भगिनी रूप से हमारी मंत्रदात्री हैं, तब उनको शिक्षा देना हमारा परम कर्तव्य हो जाता है। प्राचीन भारत में गार्गी और मैत्रेयी जैसी विदुषी स्त्रियों ने अपने विद्वान् से विद्वान् पतियों की सहचारिणी होने की योग्यता प्रमाणित कर दी थी तथा मंडनमिश्र की स्त्री ने आचार्य शंकर को भी एक बार शास्त्रार्थ में निरुत्तर कर दिया था। स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता सभी को माननी पड़ेगी। जो शिक्षा के गुण हैं वे ही स्त्री-शिक्षा के भी गुण है। जो दोष कहे जाते हैं वे स्त्री-शिक्षा के नहीं हैं, वरन् किसी विशेष शिक्षा-पद्धति के हो सकते हैं। स्त्री-शिक्षा के प्रधान गुण इस प्रकार हैं।

मानसिक विकास

स्त्री-शिक्षा का सबसे पहला लाभ यह है कि उसके कारण स्त्रियाँ कूप मंडूक नहीं रहतीं। उनके संसार-संबंधी ज्ञान में वृद्धि होती है। उनका दृष्टिकोण विस्तृत हो जाता है। उनमें प्रत्येक बात की हानि लाभ विचारने का सामर्थ्य आ जाता है। जातीय जीवन और रीति-रिवाजों के वास्तविक तत्त्व समझने की योग्यता आ जाती है; वे अन्ध-विश्वासों का शिकार नहीं बनतीं। संसार की प्रगति को जानकर वे देश की उन्नति में सहायता दे सकती हैं। अपने पति के साथ विचार विनिमय करके उनके कार्य में सहयोग दे सकती हैं।

व्यवहार कौशल

शिक्षा द्वारा स्त्रियों को न केवल बातचीत करने की योग्यता प्राप्त होती है वरन् वे व्यवहार-कुशल भी हो जाती हैं। वे हिसाब किताब रख सकती हैं। गार्हस्थ्य-शास्त्र की शिक्षा से वे घर को स्वच्छ

और परिमार्जित रखना तथा सीना-पिरोना, बुनना-काढ़ना, सुंदर रसोई बनाना, कपड़ों की देखभाल करना, गाना-बजाना आदि सब बातें जिनसे कि जीवन सरल और सुखमय बन सकता है, जान जाती हैं। यदि वे अपने ज्ञान का सदुपयोग न करें तो उनका दोष है न कि शिक्षा का।

स्वास्थ्य-सुधार

स्त्री-शिक्षा का स्वास्थ्य से विशेष संबंध है। स्त्रियाँ गृह की स्वामिनी होती हैं। बच्चों का तथा प्रायः समूचे घर का स्वास्थ्य उनके हाथ में होता है। हमारे बहुत से रोग सफ़ाई के अभाव के कारण होते हैं। शिक्षित स्त्रियाँ रोगों से बचाव के लिए आवश्यक साधनों का प्रयोग कर हमको रोगों से सुरक्षित रख सकती हैं। परिवार के लोगों के रोग-ग्रस्त हो जाने पर शिक्षित स्त्रियाँ स्वयं साफ़ रह कर अपने बच्चों को भी साफ़ रख सकती हैं। वे स्वाथ्य-संबंधी सिद्धांतों के ज्ञान से अपने परिवारों को बहुत कुछ लाभ पहुँचा सकती हैं।

बच्चों को सुधारना

बच्चों को प्रारंभिक शिक्षा माता से ही मिलती है। शिक्षित माताएँ अपने बच्चों को अच्छे तरीके से शिक्षा दे सकती हैं, उन्हें शुरू से नियम-पालन का अभ्यास करवाती हैं, तथा उन्हें बुरी आदतें न पड़ें इसका ध्यान रखती हैं। इसके विरुद्ध अशिक्षित माताओं के बच्चे प्रायः छोटी अवस्था से ही बुरी संगत में पड़ जाते हैं।

आत्म-निर्भरता

स्त्री-शिक्षा का सब से बड़ा लाभ यह है कि इस से स्त्री, यदि कभी आवश्यकता पड़े तो, अपना और अपने बच्चों का स्वयं निर्वाह कर सकती है। कितनी ही स्त्रियाँ ऐसी हैं जिन्हें वैधव्य-दुख देखना पड़ता है। उस हालत में पति के बाद स्त्री की देख-भाल करने

वाला कोई नहीं होता। पति के बाद वे अपने सम्बन्धियों को भार-स्वरूप प्रतीत होती हैं और सब उनके साथ बड़ा बुरा व्यवहार करते हैं। इस हालत में यदि स्त्री शिक्षित हो तो वह किसी पर भार-स्वरूप नहीं होती बल्कि अपना और अपने आश्रितों का गुज़ारा स्वयं कर सकती है। बहुत से लोग अपनी ज़िन्दगी का इसीलिए बीमा करवाते हैं कि यदि कभी दौर्भाग्य से उन की पत्नी पर वैधव्य की विपत्ति आ पड़े तो उसे कुछ सहायता मिल सके। पर बीमा करवाने से अच्छा यह है कि स्त्री को शिक्षा द्वारा इस योग्य बना दिया जाय कि आवश्यकता हो तो वह अपना निर्वाह स्वयं कर सके।

वर्तमान स्त्री-शिक्षा के कुछ दोष भी दिखाये जाते हैं, किन्तु वे दोष स्त्री-शिक्षा के नहीं वरन् शिक्षा-पद्धति के ही हैं और वे दोष पुरुषों की शिक्षा के भी कहे जा सकते हैं।

अमितव्ययिता

वर्तमान शिक्षा-पद्धति बालक और बालिकाओं पर फैशन का भूत चढ़ा कर उनको अमितव्ययिता की ओर ले जाती है। मितव्ययिता के साथ भी स्वच्छता आ सकती है, किन्तु आजकल की अधिकतर पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ केवल स्वच्छता का ही ख़याल नहीं रखतीं वरन् बारीक, सुन्दर और बहुमूल्य कपड़ों की पक्षपातिनी बन जाती हैं। वे सौन्दर्य के स्वास्थ्य-सम्बन्धी स्वाभाविक साधनों को छोड़ कर क्रीम, पाउडर आदि कृत्रिम साधनों का प्रयोग करने लगती हैं।

अव्यावहारिकता

यद्यपि शिक्षित स्त्रियाँ सात समुद्र पार की बातें जान जाती हैं, तथापि वे अपने घर की बातों की ओर ध्यान नहीं देतीं। अनपढ़ स्त्रियों के समान वे परिश्रम-शील भी नहीं रहतीं। वे अपने हाथ से

काम करना पसन्द नहीं करतीं। नौकरों पर ही वे अधिकतर निर्भर रहने लगती हैं।

उनके व्यवहार में स्वाभाविकता नहीं रहती। वे सब बातें किताबों के ही आधार पर करती हैं। किताबें अनुभव की पूर्ति के लिए होती हैं, उसके निराकरण के लिए नहीं। पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ अनपढ़ स्त्रियों से मेल-जोल रखना पसन्द नहीं करतीं। वे एक दूसरे ही संसार में रहने लगती हैं। किताबों के संसार में रहते-रहते वास्तविक संसार से वे कुछ दूर पहुँच जाती हैं और काल्पनिक जीवन व्यतीत करने लगती हैं।

किन्तु ये सब दोष ऐसे नहीं हैं जो कि शिक्षा के कारण अवश्य आ जाते हों। उपर्युक्त दोषों को बचाते हुए भी स्त्रियों को शिक्षा दी जा सकती है और अवश्य देनी चाहिए ताकि वे भारतीय रमणियों के सेवा, शील और सदाचार-सम्बन्धी उच्च आदर्श को पूरा करती हुई देश और जाति के लिए गौरव का विषय बन जावें।

वर्तमान शिक्षा का प्रभाव

वर्तमान समय में शिक्षा का प्रचार बढ़ रहा है। लोग अपने बालक और बालिकाओं को पढ़ाने में अधिक रुचि लेने लगे हैं। यद्यपि ग्रामों में शिक्षा का प्रबन्ध सन्तोषजनक नहीं है तथापि शहरों में पढ़ने लिखने वालों के लिए संस्थाओं का अभाव नहीं है। किन्तु देखना हमको यह है कि शिक्षा के प्रचार के साथ शिक्षा के ध्येय तथा साधनों में कुछ उन्नति हो रही है या नहीं और उसका हमारे बालक बालिकाओं पर क्या प्रभाव पड़ रहा है।

शिक्षा के ध्येय में तो अवश्य पहले से कुछ उन्नति हुई है। लोग अब शिक्षा को केवल परीक्षा पास करने का साधन नहीं समझते। अब वे इस बात को स्वीकार करने लगे हैं कि सच्ची शिक्षा वही है जिससे मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों का पूर्ण विकास हो, किन्तु बड़े खेद के साथ कहना पड़ता है कि इससे विशेष उन्नति नहीं हुई।

स्कूलों में ट्रेंड अध्यापक भी रक्खे जाते हैं, किन्तु वे लोग अध्यापन कार्य में अपनी विशेष शिक्षा का बहुत कम प्रयोग करते हैं। ध्येय की उन्नति के साथ साधनों की यथेष्ट उन्नति न होने के कारण शिक्षा का जैसा प्रभाव पड़ना चाहिए वैसा नहीं पड़ रहा। हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि वर्तमान शिक्षा से कोई लाभ नहीं हुआ, उससे विद्यार्थियों का मानसिक क्षितिज अवश्य विस्तृत हुआ है, किन्तु और सब बातों में उनका यथेष्ट रूप से विकास नहीं हो रहा। आगे हम विकास के प्रत्येक क्षेत्र पर पृथक पृथक विचार करेंगे।

शारीरिक उन्नति

हमारे स्कूलों और कालेजों में शारीरिक उन्नति के लिए नाना प्रकार के खेल खिलाये जाते हैं जिनसे बालकों के शरीर में स्फूर्ति आती है। बैठे रहने की अपेक्षा खेल से उनका स्वास्थ्य भी सुधरता है। खेलों के कारण कुछ सामाजिकता भी बढ़ती जाती है। किन्तु साथ साथ फैशन की भी तरक्की हो रही है और जीवन अधिक पेचीदा बनता जा रहा है। टैनिस के लिए अलग कपड़े चाहिएँ, फुटबाल के लिए अलग। रहन-सहन को खर्चीला बना लेना इतना बुरा नहीं किन्तु प्रश्न यह है कि उन्नत रहन-सहन के अनुकूल हमारे विद्यार्थी धन कमाने की योग्यता भी प्राप्त कर लेते हैं या नहीं ? हमारे पैर इतने

बढ़ जाते हैं कि वे रजाई से बाहर निकलने लगते हैं। विदेशी खेलों से शरीर में स्फूर्ति अवश्य आती है किन्तु उनसे हमारे विद्यार्थियों में परिश्रम करने की शक्ति नहीं बढ़ती। हमारे विद्यार्थी गेंद का बड़ा अच्छा निशान लगा लेंगे, उसको बहुत दूर भी फेंक देंगे, किंतु जहाँ पर हाथ से कुछ काम करने का प्रश्न आता है, वहाँ वे मुँह ताकते रह जाते हैं। खेल के क्षेत्र से बाहर आजकल के विद्यार्थी बहुत आलसी होते हैं, उनमें स्वालंबन का अभाव रहता है। विद्यार्थियों के मन में प्रायः अमीरों के भाव भर जाते हैं और वे घर के साधारण कार्य करने में भी लज्जित होते हैं।

यद्यपि आजकल के विद्यार्थी पहले के विद्यार्थियों की अपेक्षा बहुत सा ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तथापि उनका मानसिक उन्नति ज्ञान अपरिपक्व रहता है। उनकी सारी सफलता परीक्षा के परिणाम पर निर्भर रहती है। वे साल भर आराम से गुज़ार कर परीक्षा के दिनों में दिन रात एक करके स्वास्थ्य खराब कर लेते हैं। जो कुछ पढ़ते हैं उसको परीक्षा-भवन में वमन कर देते हैं। उनका पाठ उनके मन में परिपक्व हो कर पुष्ट नहीं होता, इसलिए भारतवर्ष में मौलिकता का अभाव बना रहता है। हमारे देश में बोस, राय, रमन, राधाकृष्ण सदृश इने गिने लोग ही हैं। यूरोप से हम विद्या का जो ऋण ले रहे हैं, उसको चुका नहीं रहे। इसका कारण यही है कि हमारी शिक्षा रुचिकर नहीं बनाई जाती और जो कुछ हमें पढ़ाया जाता है उसका क्रियात्मक रूप से अभ्यास नहीं कराया जाता।

हमारी शिक्षा विदेशी भाषा में होती है, इस प्रकार हम अपनी शिक्षा का लाभ दूसरों को नहीं दे सकते। हम में और अशिक्षित लोगों में अन्तर पड़ता जाता है। इस कारण ज्ञान और क्रिया का

भी विच्छेद हो जाता है। हम में ज्ञान है तो जनता में क्रिया और शक्ति है। वे लोग हमारे ज्ञान का पूरा पूरा लाभ नहीं उठा सकते, अतएव देश में यथेष्ट उन्नति नहीं हो पाती।

वर्तमान शिक्षा में धर्म की ओर तो बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है, जिसके कारण हमारे नवयुवक भारतीय आध्यात्मिक उन्नति संस्कृति से भी अपरिचित रहते हैं। बहुत से लोगों को रामायण और महाभारत की कथा भी नहीं मालूम होती। वे भारतीय सुन्दर साहित्य को केवल दन्त-कथा समझ उस से अपरिचित रहते हैं। इससे विद्यार्थियों का धर्म और ईश्वर के प्रति आदर नहीं रहा। साथ ही वे मनुष्यों का भी आदर नहीं करते। यद्यपि पश्चिमी सभ्यता मनुष्य का आदर करना सिखाती है तथापि हमारे विद्यार्थी-गण उन लोगों को जो उनका-सा रहन-सहन नहीं सीखे हैं एक प्रकार का अछूत-सा समझते हैं। उन में जातीय रहन-सहन और जातीय संस्थाओं के लिए आदर नहीं रहता।

भावी जीवन में अपने रहन-सहन और आदर्शों के अनुकूल आय न होने के कारण वे सदा असन्तुष्ट रहते हैं। असन्तोष के कारण उनके चित्त में सदा ग्लानि बनी रहती है, जिससे उनके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। कहीं-कहीं आत्म-हत्या तक की भी नौबत आ जाती है। आदर्शों की भिन्नता के कारण उनका पारिवारिक जीवन भी अच्छा नहीं होता। जिस जीवन-साफल्य के लिए वे शिक्षा ग्रहण करते हैं, उस से वे कोसों दूर रहते हैं।

आदर्श जीवन

मनुष्य जीवन बड़ा दुर्लभ है । कई योनियों में निरन्तर घूमने के बाद जीव को मनुष्य जीवन प्राप्त होता है ।

जीवन का लक्ष्य

अतः इसको व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिए । जहाँ तक हो सके इसे सार्थक बनाने का यत्न करना चाहिए । अब प्रश्न यह है कि हमारा जीवन किस प्रकार सार्थक बन सकता है । इसके लिए हमको मानव जीवन का लक्ष्य जानने की आवश्यकता है । यद्यपि यह विषय विवाद-ग्रस्त है, तथापि इस बात में प्रायः सभी सहमत होंगे कि अपनी ईश्वर-प्रदत्त शक्तियों का पूर्ण विकास कर समाज में साम्यभाव से रहते हुए समाज को हर प्रकार से उन्नत बनाने में योग देना जीवन का परम लक्ष्य है । इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पहले हमको अपनी शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति की ओर ध्यान देना पड़ेगा । उपर्युक्त आदर्श की पूर्ति तथा तीनों प्रकार की उन्नति के अर्थ भारतवर्ष में मनुष्य-जीवन के चार विभाग कर दिये गये थे । यह आश्रमों के नाम से प्रख्यात हैं । ये चार आश्रम इस प्रकार हैं— ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास । इन चारों आश्रमों के यथाविधि पालन करने से मनुष्य आदर्श जीवन व्यतीत कर सकता है ।

ब्रह्मचर्य

यह मनुष्य-जीवन का पहला आश्रम है । इसमें मनुष्य अपने भावी जीवन की तैयारी करता है । ब्रह्मचर्य का पालन कर वह अपने शरीर में शक्ति का संचय करता है और शिक्षा द्वारा शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के साधनों को प्राप्त करता है । इस

आश्रम में मनुष्य आज्ञा-पालन, दूसरों के प्रति सद्व्यवहार, सहनशीलता, सेवा तथा आदरभाव आदि सद्गुणों का अभ्यास कर लेता है। ब्रह्मचर्य आश्रम के डाले हुए अभ्यास जीवन-भर काम देते हैं। जब तक मनुष्य इस आश्रम से पूरा लाभ नहीं उठाता तब तक वह आगे चलकर आदर्श जीवन नहीं व्यतीत कर सकता।

गृहस्थ आश्रम

दूसरा आश्रम गृहस्थ आश्रम है। यह सब आश्रमों में श्रेष्ठ है, क्योंकि इसके द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सब तरह की सिद्धि होती है और अन्य सब आश्रमों का पालन भी होता है। मनु महाराज ने कहा है कि जिस प्रकार वायु का आश्रय लेकर सब जीवधारी जीते हैं उसी प्रकार अन्य आश्रम गृहस्थ आश्रम के आश्रय में रहते हैं—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्व जन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥

इस आश्रम का आरंभ विवाह से होता है। हिन्दुओं में विवाह एक धार्मिक संस्कार माना गया है। आदर्श जीवन के लिए पति और पत्नी के सहयोग की परम आवश्यकता है। पुरुष के लिए स्त्री और स्त्री के लिए पुरुष की आवश्यकता केवल शारीरिक वासनाओं की तृप्ति के लिए ही नहीं होती वरन् मानसिक और आध्यात्मिक सहयोग के लिए भी होती है। पति-पत्नी के परस्पर अनुकूल होने से एक दूसरे के कार्यों में सहायता ही नहीं मिलती वरन् अपने-अपने प्रेममय व्यवहार से एक दूसरे का जीवन-भार भी हलका होता रहता है।

आदर्श जीवन में सब से पहली बात यह है कि हम स्वस्थ और नीरोग रह कर अपने व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक और धार्मिक कर्त्तव्यों का पूर्णतया पालन कर सकें। स्वस्थ रहने के लिए

हमको समयानुकूल आहार-व्यवहार की आवश्यकता है। हमको अपने समय का ऐसा विभाजन करना चाहिए कि जिसमें धनोपार्जन, सामाजिक तथा पारिवारिक कर्त्तव्य पालन, आमोद-प्रमोद, स्वास्थ्य-रक्षा और धार्मिक कर्त्तव्यों के लिए स्थान रहे, और फिर उसके अनुकूल चलना चाहिए। यद्यपि निद्रा स्वास्थ्य के लिए परम आवश्यक है, तथापि उसे प्रातः-पर्यटन से लाभ उठाने में बाधक न बनाना चाहिए। हमको अपनी आजीविका ऐसी रखनी चाहिए जो धर्म के विरुद्ध न हो और जिससे देश और समाज को हानि न पहुँचे। धनोपार्जन हमें इसलिए नहीं करना है कि हम उसको अपना ध्येय बना लें वरन् इसलिए कि हम उसके द्वारा अपना कर्त्तव्य पालन कर सकें। जीविका उपार्जन के लिए जो कुछ करें उसको हम अपना धर्म समझ कर ही करें; उसमें किसी प्रकार का आलस्य या प्रमाद न करें। कर्त्तव्य-पालन से अपूर्व प्रसन्नता होती है। जो अपने कर्त्तव्य को आलस्यवश टालते रहते हैं वे कभी प्रसन्न नहीं रह सकते। धनोपार्जन में हमको कभी बेईमानी की भावना नहीं लानी चाहिए। बेईमानी से कमाया हुआ धन स्थायी नहीं होता; और यदि स्थायी हो भी तो उससे इतनी प्रसन्नता नहीं होती जितनी कि ईमानदारी द्वारा कमाए हुए धन से। बेईमान मनुष्य की आँख सदैव नीची रहती है और वह निर्भय नहीं रह सकता। आदर्श जीवन में व्यसनों के लिए भी स्थान है, किन्तु वे व्यसन ऐसे न होने चाहिएँ कि जिनसे शारीरिक, नैतिक वा आर्थिक हानि हो। संगीत, चित्रकारी आदि कला सम्बन्धी व्यसन मनुष्य जीवन में एक अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न कर देते हैं। उनके कारण जीवन का भार हलका हो जाता है। यदि इन व्यसनों में मनुष्य को अपने घर के लोगों का सहयोग मिल जावे तो जीवन और भी सुखमय बन जाता है।

हमारा फुरसत का समय यदि ऐसे सद्व्यसनों में खर्च हो तो हम बहुत से निराशाजन्य विचारों से बच जाते हैं। व्यसनों के लिए हमको इस बात का पूर्णतया ध्यान रखना चाहिए कि वे हमारी आजीविका में किसी तरह से बाधक न हों।

हमको अपने जीवन में दूसरों की सेवा के लिए भी समय निकालना चाहिए। इससे हमारे हृदय में मानव-जाति के प्रति सहानुभूति बढ़ जाती है और हम में कोमल भावों की जाग्रति होती है। सेवा द्वारा सहनशीलता बढ़ती है और जिनकी हम सेवा करते हैं उनके प्रति हमारा प्रेम दृढ़ हो जाता है। सेवा के अतिरिक्त हम को ईश्वराराधन के लिए भी समय निकालना चाहिए। इससे हमारे चित्त को शांति मिलती है और हम में सद्गुणों का उदय होता है।

गृहस्थाश्रम में हमको केवल अपनी ही चिन्ता नहीं रहती वरन् सारे परिवार का ध्यान रखना पड़ता है। हमारा कोई कार्य या वचन ऐसा न होना चाहिए जिससे हमारा अभिमान प्रगट हो अथवा दूसरों के चित्त को आघात पहुँचे। दूसरों के मन को आघात पहुँचाना भी एक प्रकार की हिंसा है। पारिवारिक जीवन में हमको इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हम दूसरों के सुख और दुःख के लिए उत्तरदायी हैं। यदि हमारे परिवार के लोग प्रसन्न नहीं हैं तो हम भी प्रसन्न नहीं रह सकते। जहाँ तक हो हमको ऐसा अवसर न आने देना चाहिए जिससे किसी प्रकार का गृह-कलह उत्पन्न हो। हमको ऐसा जीवन व्यतीत करना चाहिए कि हम प्रसन्नता, सुख और शांति के केन्द्र बन सकें। श्री जयशंकर प्रसाद जी ने पारिवारिक जीवन का बहुत ही अच्छा आदर्श बतलाया है—

बच्चे बच्चों से खेलें हो मोद बढ़ा उनके मन में।
कुल लक्ष्मी हों मुदित, भरा हो मंगल उनके जीवन में ॥
बन्धुवर्ग हों सम्मानित, हों सेवक सुखी प्रणत अनुचर।
शांति पूर्ण हो स्वामी का मन तो स्पृहणीय न हो क्यों घर ॥

अंतिम दो आश्रम धर्म और मोक्ष के साधन हैं। वानप्रस्थ आश्रम में मनुष्य गृहस्थी का त्याग नहीं करता वरन् वित्तोपार्जन से विरक्त हो अपने को समाज-सेवा और आध्यात्मिक उन्नति के कार्यों में लगा देता है। संन्यास में मनुष्य गृहस्थी का भी त्याग कर एक दम मोक्ष-प्राप्ति में लग जाता है। आजकल लोग संन्यास का अर्थ बिलकुल संन्यास वा त्याग नहीं मानते। संन्यास का अर्थ यही बतलाया जाता है कि हमको अपने व्यक्तिगत लाभ, सुख और दुख के विचारों का त्याग कर परोपकार के कार्य में लग जाना चाहिए। समाज-सेवा भी एक प्रकार की ईश्वर-सेवा है, क्योंकि ईश्वर और ईश्वर की सृष्टि में भेद नहीं है।

वानप्रस्थ और संन्यास

संक्षेप से वह जीवन आदर्श है जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सबका एक-सा साधन हो सके और जिसके द्वारा व्यक्ति और समाज में सामंजस्य स्थापित हो सके।

विद्यार्थी-जीवन

प्रवेश

हिन्दू-धर्म ग्रन्थों के अनुसार मानव-जीवन के चार विभाग किये गये हैं। ये आश्रमों के नाम से प्रख्यात हैं। इन सब में पहला आश्रम ब्रह्मचर्य आश्रम है। शेष आश्रमों के नाम इस प्रकार से हैं—गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। यद्यपि आजकल पहले की भाँति गुरु-गृह में रहकर ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन नहीं किया जाता, तथापि आजकल का विद्यार्थी जीवन उसी का वर्तमान स्थितियों के अनुकूल रूपान्तर है। प्राचीन और अर्वाचीन आदर्शों में भी भेद है, किन्तु दोनों ही आदर्श विद्यार्थी-जीवन को भावी जीवन की तैयारी मानते हैं। यह जीवन ज्ञान और शक्ति के संग्रह का है।

अर्वाचीन और प्राचीन पद्धति में अन्तर

प्राचीन काल में यज्ञोपवीत संस्कार के पश्चात् माता पिता अपने बालकों को गुरु-गृह में भेज देते थे। वहाँ वे ब्रह्मचर्य व्रत पालन कर अपना समय गुरु की सेवा और अध्ययन में लगाते थे। विद्यार्थी जीवन की समाप्ति पर वे घर लौट कर विवाह करते थे और गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करते थे। आजकल इस आदर्श में थोड़ा अन्तर आ गया है। विद्यार्थीगण एक विशेष अवस्था तक माता के लाड प्यार में घर ही पर रह कर, स्कूलों और पाठशालाओं में जाकर अथवा निजू अध्यापक रखकर शिक्षा पाते हैं। कभी कभी बहुत छोटे बच्चे भी छात्रावास में भेज दिये जाते हैं। प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् कुछ विद्यार्थी छात्रावास में रहने को चले जाते हैं और कुछ घर पर रह कर स्कूल और कालेजों से लाभ उठाते हैं। छात्रावास

में रह कर विद्याध्ययन करना प्राचीन आदर्श के ही अनुकूल है, किन्तु भेद इतना है कि आजकल लोग गुरु की सेवा नहीं करते वरन् उसके बदले में नक़द रुपया देते हैं। सेवा से एक तो अभिमान का भाव पैदा नहीं होने पाता था, दूसरे शरीर आलस्य से बचा रहता था और तीसरे गुरु और विद्यार्थी का वैयक्तिक संबन्ध दृढ़ हो जाता था। इस संबन्ध को दृढ़ बनाने का आजकल भी उद्योग किया जाता है। दूसरा प्राचीन और अर्वाचीन काल की प्रथा में अन्तर यह है कि आजकल विद्यार्थीगण शिक्षा समाप्त करने से पूर्व ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर लेते हैं।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि विद्यार्थी-जीवन तैयारी का जीवन है। यह तैयारी दो प्रकार की होती है—एक ज्ञानोपार्जन करने की और दूसरी सदभ्यास द्वारा क्रिया-कौशल प्राप्त करने की। ज्ञानोपार्जन कई प्रकार से होता है—प्रकृति-निरीक्षण द्वारा, पुस्तकों द्वारा, मौखिक उपदेश द्वारा।

ईश्वर ने हमको ज्ञान-प्राप्ति करने के लिए ज्ञानेन्द्रियाँ दी हैं। वे ही हमारे ज्ञान की सच्ची माध्यम हैं। बहुत से विद्यार्थी ज्ञान के स्वाभाविक साधनों को छोड़कर पुस्तक का आश्रय लेते हैं। उन लोगों को जानना चाहिए कि पुस्तकें भी निरीक्षण के आधार पर बनी हैं। यद्यपि मनुष्य प्रकृति-निरीक्षण द्वारा हर समय शिक्षा प्राप्त कर सकता है तथापि इस निरीक्षण का अभ्यास जैसा बाल्यकाल में पड़ जाता है वैसा ही सारे जीवन भर बना रहता है। संसार में जितने आविष्कार हुए हैं उनका आधार किसी न किसी प्रकार के निरीक्षण में है। वाष्प शक्ति का आविष्कार भी एक बालक के निरीक्षण के आधार पर हुआ था। साधारण से साधारण घटनाओं

प्रकृति-निरीक्षण

में किसी बड़े सिद्धान्त के मिलने की संभावना रहती है। इसीलिए हमको चाहिए कि किसी घटना को साधारण समझ कर उस की उपेक्षा न करें।

विद्यार्थी जीवन में ये दोनों बातें प्रायः साथ-साथ चलती हैं।

पुस्तक अध्ययन और मौखिक उपदेश

बहुत से विद्यार्थी अपनी पुस्तकों को ज्ञान प्राप्त करने का साधन नहीं समझते वरन् परीक्षा पास करने का साधन मानते हैं। वास्तविक लाभ तभी होता है जब कि उनको ज्ञान-प्राप्ति का साधन समझा जावे। जो कुछ हम पढ़ें उस पर हमको मनन करना चाहिए। मनन करके हमको अपना ज्ञान अपने मानसिक संस्थान का अंग बना लेना चाहिए। हमको केवल एक ही पाठ्य-पुस्तक पर निर्भर नहीं रहना चाहिए वरन् उस विषय की अधिक से अधिक पुस्तकें पढ़नी चाहिएँ। यदि हमको छात्रावास में रहने का सुअवसर मिला है तो हमको अन्य छात्रों के साथ विचार-परिवर्तन कर अपने ज्ञान को बढ़ाना चाहिए। विचार-परिवर्तन से जितना ज्ञान परिपक्व होता या बढ़ता है उतना अन्य बातों से नहीं। विद्यार्थियों को अपने गुरुओं के संपर्क में आने का उद्योग करना चाहिए। जितना ज्ञान पुस्तकों से प्राप्त होता है उस से अधिक गुरुओं से वार्तालाप द्वारा प्राप्त होता है। यद्यपि आजकल फीस देकर पढ़ाई होती है तथापि विद्यार्थियों को चाहिए कि गुरुओं के प्रति पहले का सा ही सेवा और आदर का भाव रक्खें।

विद्यार्थियों को चाहिए कि वे प्रत्येक बात का निरीक्षण करें। उस पर मनन कर उस से सिद्धान्त निकालें। उन सिद्धान्तों का पुस्तकों में दिये हुए सिद्धान्तों से मिलान करें और उन सिद्धान्तों

के संवन्ध में गुरुओं से वार्तालाप करें और अपनी पढ़ी हुई विद्या का व्यावहारिक उद्योग करें। तभी उनका ज्ञान मौलिक हो सकेगा।

शारीरिक और आध्यात्मिक उन्नति

ज्ञानोपार्जन के अतिरिक्त विद्यार्थी जीवन में अपनी शारीरिक और आध्यात्मिक शक्तियों का वढ़ाना आवश्यक है। पढ़ने लिखने के अतिरिक्त विद्यार्थियों को स्कूल या कालेज के सभी खेलों में भाग लेना चाहिए। इन से शरीर में स्फूर्ति वढ़ती है और सामाजिकता भी आ जाती है। विद्यार्थी-जीवन प्रसन्नता का जीवन है। इस जीवन में चिन्ता को पास न फटकने देना चाहिए। आत्म-संयम रखते हुए यह जीवन पूर्ण स्वतन्त्रता का है। स्वतन्त्रता का यह अर्थ नहीं है कि अध्यापकों का आदर न किया जावे या उनकी आज्ञा की अवहेलना की जावे वरन् यह कि लड़के स्वच्छ वातावरण में एक हरे-भरे पौदे की भाँति प्रसन्न रह कर फूलें फलें और वे किसी प्रकार के वन्धनों में न वँध जावें। पढ़ाई से अतिरिक्त समय में वे उछलें, कूदें और हर प्रकार से अपने शरीर में वल का संचय करें। इन सव वातों के साथ साथ वे चरित्रवान वनने का उद्योग करें। वे सत्य पर दृढ़ रहना सीखें और छल, कपट, दंभ आदि दुर्गुणों को पास न फटकने दें। चरित्र-गठन के लिए सव से आवश्यक वात यह है कि संकल्प शक्ति वढ़ाने का अभ्यास किया जावे जिससे भावी जीवन में वे विषयों में फँसने से वच सकें।

जिस प्रकार शारीरिक उन्नति आवश्यक है उसी प्रकार व्यावहारिक कुशलता प्राप्त करना भी आवश्यक है। विद्यार्थी जीवन में अपने से वड़े, छोटे और वरावर वालों से मिलने का अवसर मिलता है। इस जीवन में जो विद्यार्थीगण सद्व्यवहार

का अभ्यास नहीं डालते उनको आजीवन कठिनाई होती है। यही जीवन अभ्यास बनाने का है। बोल-चाल, रहन-सहन आदि जैसा विद्यार्थी-जीवन में बन जाता है, वैसा उमर भर बना रहता है। शील और सदाचार का भी अभ्यास इसी समय डालना चाहिए। यही तैयारी का अवसर है। चूक जाने पर पछताना व्यर्थ होता है।

"फिर पछिताये होत क्या जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत ॥"

चरित्र-संगठन

मनुष्य की विशेषता उसके चरित्र में है। यदि एक मनुष्य दूसरे से अधिक आदरणीय समझा जाता है तो

चरित्र का महत्त्व

वह अपने चरित्र के कारण। मनुष्य का आदर उसके पद, धन या विद्या के कारण भी होता है, किन्तु ये सब चीज़ें एक प्रकार से बाह्य हैं। पद स्थायी नहीं होता। यदि वह स्थायी भी हो तो उसके लिए जो आदर होता है वह भय-जन्य होने के कारण श्लाघनीय नहीं। धन का आदर वही करेगा जिस को धनी से कुछ लाभ उठाने की इच्छा हो। विद्या का मान अवश्य ऐसा है जो वास्तव में अपने कारण कहा जा सकता है, किन्तु वह भी विनय और चरित्र के बिना चिरस्थायी नहीं होता। विद्या, धन, बल तथा पद के होते हुए भी चरित्र के अभाव में रावण पूजा न जा सका। इसलिए मनुष्य की वास्तविक महत्ता उसके चरित्र में है। चरित्र द्वारा ही मनुष्य की आत्मा का मूल्य आँका जा सकता है। चरित्र में ही आत्मबल का प्रकाश दिखाई पड़ता है। मनुष्य का चरित्र ही बतलाता है कि वह कितने पानी में है।

चरित्र क्या है

यह चरित्र क्या है जो इतना महत्त्व रखता है ? यह चरित्र उन गुणों का समूह है जो हमारे व्यावहारिक जीवन से संबन्ध रखते हैं। विनय, उदारता, धैर्य, निर्भय होकर सत्य बोलना, लालच में न पड़ना एवं अपने कर्तव्य पर दृढ़ रहना; यह सब गुण चरित्र में आते हैं। यद्यपि चरित्र के अन्तर्गत और भी बहुत से गुण हैं तथापि उपर्युक्त गुणों का होना आवश्यक है। इन गुणों के सम्बन्ध में दो चार शब्द कह देना अनुपयुक्त न होगा।

विनय

विनय विद्या का भूषण है। विनय के बिना विद्या शोभा नहीं देती। श्रीमद्भगवद्गीता में ब्राह्मण का 'विद्या विनय सम्पन्न' विशेषण देकर श्रीकृष्ण भगवान ने विद्या का विनय के साथ आवश्यक संबन्ध बतलाया है। विनय केवल विद्या की ही नहीं वरन् धन और बल की भी शोभा है। विनय से आत्मा की शुद्धि होती है। विनय के साथ निरभिमानिता, मनुष्य जाति के प्रति आदरभाव, सहन-शीलता, आदि अनेक सद्भाव लगे हुए हैं। इसके अभ्यास से और सब मुख्य मुख्य गुणों का अभ्यास हो जाता है।

उदारता

उदारता का अर्थ खुले हाथों से धन दे डालना ही नहीं है, अपितु दूसरों के प्रति क्षमा का भाव रखना, दूसरों के विचारों का आदर करना, स्वयं श्रेय न लेकर दूसरों को श्रेय देना, अपने को जिससे हानि पहुँची हो उसके साथ भी अच्छा व्यवहार करना, आदि गुण—जिनमें कि अपने क्षुद्र आत्मभाव का परित्याग करना पड़ता है—उदारता के अन्तर्गत हैं। जो लोग उपकृत पुरुष के साथ भी आदर का व्यवहार करते हैं, जो लोग अपने साथियों की भूल तथा उनके

अपराधों की स्वयं व्याख्या कर उनको क्षमा कर देते हैं और जो लोग दूसरों की छोटी से छोटी बात को महत्ता देने को तैयार रहते हैं वे लोग वास्तव में उदार हैं। ऐसी उदारता मानव जाति का गौरव है।

धैर्य

कठिनाइयों में चित्त को स्थिर रखना धैर्य कहलाता है। मनुष्य के जीवन में समय समय पर कठिनाइयाँ आती हैं। जो लोग इन कठिनाइयों से विचलित न होकर अपने कर्तव्य मार्ग पर डटे रहते हैं, वे ही सच्चे धीर वीर पुरुष कहलाते हैं। कठिन से कठिन स्थिति में भी प्रसन्न रहना आत्मा की उच्चता का सूचक है। राजा हरिश्चन्द्र अत्यन्त करुणा-जनक परिस्थिति में भी कर्तव्य मार्ग से नहीं हटे। श्री रामचन्द्रजी युव-राज पद पाने वाले थे, उसके स्थान में उनको वनवास मिला; सारी परिस्थिति पलट गई किन्तु श्री रामचन्द्रजी का मुख जरा भी मैला नहीं हुआ। इससे वे जगद्वन्दनीय हुए।

निर्भय होकर सत्य बोलना

सत्य की बड़ी महिमा है। मनुष्य को अपने वास्तविक विश्वासों को प्रगट करने का साहस चाहिए। भय अथवा खुशामद के लिए झूठ बोलना निन्द्य है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि सत्य की विडंबना की जावे।

लालच में न पड़ना और कर्तव्य-परायणता

चरित्रवान पुरुषों के लिए यह गुण अत्यन्त आवश्यक है। लोग लालच में पड़कर अपनी उम्र भर की सारी तपस्या खो बैठते हैं। जो लोग स्वयं लालच में नहीं पड़ते उन्हीं की बात का असर होता है। संसार में दूसरों को उपदेश देने में कुशल मनुष्यों की कमी नहीं है, पर कर्तव्य-परायण लोगों की कमी

है। इसी कारण संसार की सुन्दर से सुन्दर योजनाएँ निष्फल हो जाती हैं। जो लोग आपत्ति आने पर विचलित नहीं होते, प्रलोभनों के जाल में नहीं फँसते और अपने ध्येय की पूर्ति के लिए अपने हानि-लाभ का खयाल नहीं करते वे ही सच्चे कर्तव्य-परायण समझे जाते हैं। उन्हीं का समाज में आदर होता है।

ये सब गुण अभ्यास से प्राप्त हो सकते हैं। बाल्यावस्था चरित्र-निर्माण के लिए उपयुक्त समय है। इस समय जो सदभ्यास बन जाते हैं वे सारी उम्र काम देते हैं। यदि हमको अपना जीवन सार्थक करना है तो हमको सदभ्यास द्वारा चरित्रवान बनना चाहिए। हमारे चरित्रवान बनने पर भारत का भविष्य निर्भर है। चरित्रवान पुरुष ही देश का सुधार कर सकते हैं। चरित्रवान पुरुष देश का गौरव हैं और चरित्रहीन पुरुष देश का कलंक।

देशाटन

मनुष्य एक सामाजिक जीव है। वह मकान में बंद होकर नहीं रह सकता। उसके लिए तनहाई की कैद सबसे बड़ी सज़ा समझी जाती है। साधारण मनुष्य यह जानना चाहता है कि और देशों के लोग किस प्रकार रहते-सहते हैं और उनके रीति-रिवाज, शिक्षा-पद्धतियाँ और शासन-विधियाँ किस प्रकार की हैं। वह अपने ज्ञान को व्यापक बनाना चाहता है। मनुष्य में देश-विदेश में जाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति की पूर्ति के लिए उसने नाना प्रकार के यान और वाहन बना लिये हैं। देशाटन का अर्थ केवल विदेश-यात्रा ही नहीं है, अपितु अपने देश के भिन्न भिन्न स्थानों में

जाना भी देशाटन कहलाता है। अब तो भारतवर्ष में विदेश जाने का चाव भी बहुत बढ़ गया है, क्योंकि अब समुद्र-यात्रा के विरुद्ध सामाजिक बन्धन पहले जैसे नहीं रहे। अब मनुष्य के लिए कोई देश अगम्य नहीं है। उसके सम्बन्धों का बहुत विस्तार होगया है। इन सम्बन्धों के कारण देशाटन बड़ी आसान बात होगई है। देशाटन से मनुष्य को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा शिक्षा और स्वास्थ्य-सबन्धी अनेक प्रकार के लाभ होते हैं।

ज्ञानवृद्धि

देशाटन शिक्षा का एक मुख्य अंग माना गया है। देशाटन के बिना शिक्षा को अपूर्ण समझना चाहिए। किसी पदार्थ के विषय में बीसियों पुस्तकें पढ़ लेने से भी उतना लाभ नहीं होता जितना उसे एक बार देख लेने से होता है। ताजबीबी के रोज़े का वर्णन चाहे बीसियों बार क्यों न पढ़ लिया जाय पर उसकी ठीक-ठीक बनावट का ज्ञान उसे देखने से ही हो सकता है। भूगोल का वास्तविक ज्ञान तो देशाटन द्वारा ही प्राप्त होता है। देशाटन द्वारा हम दूसरे देशों की राजनीतिक और आर्थिक अवस्थाओं से ठीक-ठीक परिचित हो सकते हैं। यदि हम दूसरे देश या प्रान्त में जाकर किसी कालेज या शिक्षालय में शिक्षा न भी प्राप्त करें तो भी हमको विदेश में जाने से ही बहुत सी बातों की शिक्षा मिल जाती है। देशाटन का शिक्षा सम्बन्धी बहुत महत्त्व है।

आर्थिक और राजनीतिक

देशाटन से दूसरे देशों के बाज़ारों का भी पता चलता है। हम अपने सुभीते का माल वहाँ से खरीद सकते हैं और अपना माल वहाँ बेच सकते हैं। देशाटन के आदी होने के कारण पश्चिम देशवासी आज संसार भर के व्यापार के कर्ता धर्ता बने हुए हैं।

देशाटन की बदौलत ही यूरोप-निवासियों को अमेरिका और भारतवर्ष का पता चला था। देशाटन द्वारा हम दूसरे देशों के कला-कौशल से परिचय प्राप्त कर सकते हैं और उस ज्ञान के द्वारा अपने यहाँ के कला-कौशल में उन्नति कर सकते हैं।

स्वास्थ्यसंबंधी

देशाटन से स्वास्थ्य पर भी बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है। जब हम अपने स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान में जाते हैं तब हमारी चिन्ताएँ कुछ कम हो जाती हैं और हमारा कार्य कुछ हलका हो जाता है। उसका हमारे स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। एक स्थान पर रहते-रहते हमारा जी ऊब जाता है, दूसरी जगह जाने से हमको एक आनंद-दायक विभिन्नता दिखाई पड़ती है और उससे हमारे चित्त को प्रसन्नता मिलती है। दूसरे देशों और प्रान्तों में जा कर जलवायु परिवर्तन का भी हमारे स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। प्राय: डाक्टर लोग समुद्र तट की जलवायु के सेवन करने का परामर्श देते हैं। कभी-कभी वे अपने मरीज़ों को पहाड़ पर भेज देते हैं। जो लोग देशाटन कर सकते हैं वे सदा अधिक गर्मी और शीत के कुप्रभाव से अपने को बचाए रख सकते हैं।

देशाटन से मनुष्य भिन्न-भिन्न स्थानों की प्राकृतिक शोभा का भली प्रकार निरीक्षण कर सकता है। अपने देश में ही काश्मीर आदि ऐसे सुरम्य प्रदेश हैं जो पार्थिव स्वर्ग कहे जा सकते हैं। नदियों के जल-प्रपात, हिमाच्छादित पर्वत शृंग, और सघन वनस्थली किसका मन नहीं हर लेती! देशाटन से प्राकृतिक तथा कृत्रिम दोनों ही प्रकार की शोभा देखने को मिलती है। बड़ी-बड़ी गगन-चुंबिनी अट्टालिकाएँ, स्फटिक की सी स्वच्छ सड़कें, कटे-छटे बाग-बगीचे, बड़ी-बड़ी दुकानों का वैभव-पूर्ण चमकता-दमकता सामान

और आँखों में चकाचौंध पैदा करने वाला विद्युत् प्रकाश किस के चित्त को आकर्षित नहीं करता ! इसी लिए कहा है—

सैर कर दुनियाँ की गाफ़िल ज़िंदगानी फिर कहाँ ?

प्रातः-पर्यटन

प्रातःकाल दिवस का शैशव है। उसमें शिशु की सी सहज सुषमा, प्रसन्नता और स्फूर्ति होती है। उस समय रात्रि की मलिनता धीरे-धीरे विलीन होने लगती है। भगवान भुवन-भास्कर सूर्यदेव के स्वागत के लिए दिशाएँ अनुपम सौंदर्य से सुसज्जित हो जाती हैं। पक्षियों का मधुर कलरव स्वागत के लिए बजती हुई दुन्दुभि के समान प्रतीत होता है और खिले हुए फूलों की सुगन्ध से भरा हुआ शीतल मन्द पवन इस स्वागत कार्य में योग देता है। चारों ओर एक नवीन स्फूर्ति और क्रिया का संचार दिखाई पड़ता है। फूल प्रसन्नता से खिल जाते हैं और हँसते हुए से प्रतीत होते हैं। रात की ओस की बूँदें हरी-हरी पत्तियों को एक अपूर्व-सौन्दर्य प्रदान करती हैं। जिधर देखो उधर अभिनव वसन्त सा दिखाई पड़ता है। चारों ओर प्रसन्नता का साम्राज्य होता है।

जो लोग सवेरे नहीं उठते वे इस प्रसन्नता से वंचित रहते हैं। और जो लोग सूर्योदय से पूर्व घूमने चले जाते हैं वे इस प्राकृतिक शोभा का पूर्ण लाभ उठाते हैं। 'सोये तो खोये' की लोकोक्ति यहीं पर अक्षरशः चरितार्थ होती है।

प्रातः-पर्यटन से हमारे शरीर में भी फूलों का सा हलकापन और चिड़ियों की सी स्वतन्त्रता और प्रसन्नता आ जाती है।

हमारा मन उत्साह से भर जाता है और दिन भर काम करने के लिए स्फूर्ति आ जाती है।

प्रातः-पर्यटन से हम अपने घरों की रात भर की विषैली वायु से बच कर जंगल की स्वास्थ्यप्रद वायु का सेवन कर सकते हैं। प्रातःकालीन वायु के सेवन से हमारा रक्त शुद्ध होता है, उसमें रक्त कीटाणुओं की वृद्धि होती है। इस वायु में धूल के हानिप्रद कण भी नहीं होते। यह वायु पूर्ण लाभदायक होती है। प्रातःकाल के समय सूर्य की गर्मी भी नहीं होती इसलिए शीघ्र थकावट नहीं मालूम होती और मनुष्य अच्छी तरह से भाग दौड़ सकता है। तेज घूमने से शरीर के अंग-प्रत्यंग का व्यायाम हो जाता है। सारे शरीर में रुधिर का संचार हो जाता है। प्रातः-पर्यटन करने वाले को अजीर्ण नहीं होने पाता और वह सैकड़ों शारीरिक व्याधियों से बचा रहता है।

प्रातः-पर्यटन से लोग प्रकृति से भी परिचित हो जाते हैं। पशु-पक्षियों का रहन-सहन जान लेते हैं। फूलों और पत्तियों की भी पहचान हो जाती है।

प्रातः-पर्यटन से मन पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है। प्राकृतिक सौन्दर्य से मन में साम्य स्थापित हो जाता है। तेज़ चलने के कारण गंभीर विचार और चिंता से थोड़ी देर के लिए छुट्टी मिल जाती है। मस्तिष्क में रुधिर का दबाव भी हलका हो जाता है। मस्तिष्क को शान्ति मिल जाने के कारण उसकी विचार-शक्ति बढ़ जाती है।

जो लोग प्रातः-पर्यटन के आदी हो जाते हैं वे आलस्य पर भी विजय पाने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेते हैं। जो लोग सवेरे से ही आलस्य का शिकार बन जाते हैं वे आलस्य की जड़ पक्की कर देते हैं। आलस्य की जितनी दासता की जाती है उतना ही उसका

अधिकार बढ़ता है। सवेरे का समय एक प्रकार से आलस्य का गढ़ होता है। बाहर के शीत का भय और गुदगुदे बिछौने की गर्मी मनुष्य के संकल्प को विचलित कर देती है। जो मनुष्य इस आलस्य के गढ़ को तोड़ लेता है वह दिन भर के लिए विजयी हो जाता है। मनुष्य जब तक चारपाई में रहता है, तभी तक उसे आलस्य का आकर्षण रहता है। जहाँ वह बाहर आया वहाँ बाहर का सौन्दर्य चारपाई के आलस्यमय सुख से कहीं अधिक अच्छा प्रतीत होता है।

प्रातः-पर्यटन मनुष्य में सदाचार और धार्मिक भावों की वृद्धि करता है। प्राकृतिक शोभा को देख कर मनुष्य का ध्यान ईश्वर की कारीगरी की ओर आकर्षित हो जाता है। वह उसका गुणगान करने लगता है। धार्मिक ग्रन्थों में ब्राह्म-मुहूर्त में उठना बड़ा लाभ-दायक बतलाया गया है। प्रातः-पर्यटन करने वाला मनुष्य धार्मिक ग्रन्थों के इस आदेश का पालन कर सकता है।

प्रातः-पर्यटन मनुष्य के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए परम आवश्यक है। जो मनुष्य अपना हित चाहता है, उसे न केवल स्वयं प्रातः-पर्यटन करना चाहिए वरन् अपने सारे कुटुंब को इसका अभ्यासी बनाना चाहिए। इस में जो समय बिताया जायगा वह निष्फल न होगा।

पदार्थ-विज्ञान के लाभ

किसी चीज़ के नियमबद्ध विशेष ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। विज्ञान आध्यात्मिक, मानसिक और सामाजिक विषयों का भी होता है, जैसे—तर्कशास्त्र, मनो-विज्ञान और कर्त्तव्यशास्त्र; एवं भौतिक पदार्थों का भी होता है, जैसे—रसायन-शास्त्र, भौतिक विज्ञान और प्राणिशास्त्र। भौतिक पदार्थों के विज्ञान को पदार्थ विज्ञान कहते हैं। पदार्थ विज्ञान से दो प्रकार के लाभ होते हैं:—एक तो विचारों का विकास जिसे मानसिक लाभ कहना चाहिए; दूसरे वे भौतिक और सामाजिक लाभ जो पदार्थ-विज्ञान के सिद्धान्तों द्वारा निकाले हुए आविष्कारों से होते हैं।

मानसिक लाभ

विज्ञान के अध्ययन से हमारी जिज्ञासा की तृप्ति ही नहीं होती वरन् उससे हमारे ज्ञान का बहुत कुछ विस्तार भी होता है। हमारे सामने प्राकृतिक रहस्यों का उद्घाटन हो जाता है, और हमें संसार में नियम और शृंखला दिखाई पड़ने लगती है। इसके अतिरिक्त हमारे मन का एक विशेष प्रकार का संयम हो जाता है। जो लोग विज्ञान पढ़ते हैं, वे किसी बात को बिना छान-बीन किये सहसा नहीं मान लेते और न शीघ्र धोखे में आते हैं। वे लोग हर बात को तर्क की कसौटी पर कसते हैं। इस कारण उनमें अंध-विश्वास की मात्रा कम हो जाती है। इसके साथ-साथ उनमें कट्टरपन भी नहीं रहने पाता। जिस प्रकार वैज्ञानिक लोग किसी बात का सहसा विश्वास नहीं करते उसी तरह से वे जब तक कोई बात बिलकुल असंभव न

हो उस में सहसा अविश्वास भी नहीं करते। वे प्रत्येक चीज़ का उचित मूल्य निर्धारित करने का उद्योग करते हैं; इसलिए उनका दृष्टिकोण बड़ा उदार हो जाता है। वैज्ञानिक प्रत्येक बात में नियम और शृंखला देखना चाहता है। वह अपने ज्ञान को सुव्यवस्थित बना लेता है। और इस कारण वह उससे पूर्ण लाभ भी उठा सकता है।

स्वास्थ्य संबन्धी लाभ

मनुष्य को पदार्थ-विज्ञान से स्वास्थ्य-संबन्धी लाभ भी बहुत हुए हैं। अब बहुत सी बीमारियों के यथार्थ कारण मालूम हो गये हैं। अनुवीक्षण यन्त्र द्वारा हम अपने शरीर से निकले हुए पदार्थों के कीटाणुओं की जाँच कराकर रोग का पूरा-पूरा निदान करवा सकते हैं। ठीक निदान हो जाने के कारण चिकित्सा भी सुलभ हो जाती है। ऐक्स-रे के आविष्कार से शल्य-चिकित्सा (चीराफाड़ी) को बहुत कुछ सहायता मिली है। अब वह अंधों की सी टटोल नहीं रही है। वैज्ञानिक ऐक्स-रे द्वारा जान लेते हैं कि कहाँ की हड्डी का कौन सा भाग टूट गया है, अथवा सड़ या गल गया है। वे उसी स्थान को चीर फाड़ कर यथा-संभव दोष का निराकरण कर देते हैं। रेडियम से नासूर आदि की चिकित्सा में भी बहुत कुछ सहायता मिली है। अब नाना प्रकार के टीकों द्वारा रोगों की रोक थाम हो जाती है और बहुत से लोग अकाल मृत्यु से बच जाते हैं। विज्ञान ने खाद्य-पदार्थों का विश्लेषण कर हमको अपने आहार द्वारा ही बहुत से रोगों की चिकित्सा कर लेने में सफल बनाया है। जितना हम को प्राकृतिक नियमों का ज्ञान होता जाता है उतना ही हम उनसे लाभ उठाते हैं और अपने को स्वस्थ और चिरायु बनाने का उद्योग करते हैं।

भौतिक लाभ

पदार्थ विज्ञान के आधार पर दुनियाँ में बड़े-बड़े आविष्कार हुए हैं। रेल के आविष्कार के कारण सहस्रों मनुष्य देश के इस छोर से उस छोर तक थोड़े ही काल में पहुँच जाते हैं और सहस्रों मन माल इधर का उधर हो जाता है। विज्ञान ने जिस प्रकार जल और थल पर रेल और जहाज़ द्वारा विजय पाई है, उसी प्रकार वायुयान द्वारा उसने आकाश पर भी अधिकार जमा लिया है। अब मनुष्य देवताओं की भाँति विमान में बैठकर गगन-विहारी बन सकते हैं। मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति जितनी विद्युत् शक्ति से हो रही है उतनी और किसी चीज़ से नहीं। विद्युत् शक्ति ने एक प्रकार से संसार में कल्पवृक्ष उपस्थित कर दिया है। बटन दबाने की देर नहीं होती कि सारा शहर बिजली की शुभ्र ज्योत्स्ना से दीप्त हो जाता है। "तमसो मा ज्योतिर्गमय" की प्रार्थना अक्षरशः चरितार्थ हो जाती है। बिजली की शक्ति से हम एक क्षण में अपनी आवाज़ सहस्रों मील दूर पहुँचा सकते हैं और घर पर बैठे लंडन और पेरिस के थियेटरों के गाने सुन सकते हैं। टेलीफोन द्वारा हम दूर देशस्थ मित्रों के साथ बड़ी सुगमता से बातचीत कर सकते हैं मानों वे हमारे कमरे में ही बैठे हों। आज कल लाखों और करोड़ों का व्यापार टेलीफोन के ही आधार पर चल रहा है। बेतार के तार द्वारा डूबते हुए जहाज भी अपनी संकटमय अवस्था की सूचना उचित स्थानों तक पहुँचा देते हैं। विद्युत्-शक्ति द्वारा केवल शब्द ही दूर तक नहीं पहुँचाया जाता वरन् अब दूरस्थ देशों के चित्र भी बेतार के तार द्वारा दूर देशों में दिखाये जा सकेंगे। विज्ञान के यंत्रों द्वारा हमारे सभी कार्य सुगम हो गए हैं। प्राचीन समय में जो सुख राजा-महाराजाओं को बहुत धन खर्च करके प्राप्त

होते थे आज वे साधारण स्थिति के लोगों के लिए भी सुलभ हो गये हैं। गर्मी में शीतल समीर और जाड़ों में सुखद उष्णता सहज ही में प्राप्त हो सकती है। पदार्थ विज्ञान द्वारा मनुष्य ने प्रकृति पर विजय पा ली है और उसके बल पर यह वास्तव में प्रकृति का शासक बन गया है।

रेल के लाभ

यात्रा की सुगमता

प्राचीन समय में यात्रा के अच्छे साधन न थे। लोग ऊँट, खच्चर, घोड़े, बैलगाड़ी आदि पर एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते थे। इन साधनों के द्वारा यात्रा आराम से नहीं हो सकती थी। राह में अनेक मुसीबतों का सामना करना पड़ता था। कभी लुटेरों का आतंक, कभी सिंह, व्याघ्र आदि हिंस्र जन्तुओं का भय, और कभी रोग आदि का डर रहता था। एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने में वर्षों लग जाते थे। राह-खर्च इतना अधिक बैठता था कि धनवान लोग ही यात्रा का नाम लेते थे और वे भी कभी कभी। रेलगाड़ी के प्रचलित होने से स्थलयात्रा बड़ी सुगम होगई है। अब यात्री-गण प्रत्येक ऋतु में—चाहे भीषण वर्षा हो, चाहे कड़ाके की सर्दी पड़ती हो और चाहे जेठ की कड़कड़ाती धूप हो—यात्रा कर सकते हैं। उनको दसहरा और दिवाली की बाट नहीं जोहनी पड़ती। रात हो या दिन, कुहरा हो या पाला, हर घड़ी यात्रा की जा सकती है। रक्षा के लिए सशस्त्र मनुष्य ले जाने की, खाने पीने के लिए साज-सामान की और रास्ते में पड़ाव-पड़ाव पर

ठहरने के लिए किसी परिचय की आवश्यकता नहीं। रंक-राव, बाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, सब यात्रा का आनन्द उठा सकते हैं। जिन तीर्थों और प्रसिद्ध स्थानों के लिए पहले लोग तरसा करते थे, वे अब सब के लिए सुगम होगये हैं। चाहे हरद्वार के दर्शन करके जन्म सफल कीजिए, चाहे शिमला की शीतल मन्द सुगन्ध समीर का आनन्द लूटिए, चाहे लखनऊ जाकर इमामबाड़ा देखिए, चाहे आगरा में ताज की अलौकिक शोभा को निहारिए, चाहे अमरपुरी को लजाने वाली सुरम्य, नवेली नई दिल्ली को देखकर अपनी रुचि और कौतूहल की तृप्ति कीजिये, चाहे चारों धामों में जाकर पुण्य उपार्जन कीजिए, और चाहे बंबई और कलकत्ता की गगन-स्पर्शिनी उच्च अट्टालिकाओं का निरीक्षण कीजिए, रेल ने सब सुलभ कर दिया है। वन, पर्वत, नदी, नाला, झील, मरुभूमि, दर्रे आदि दुर्लभ मार्गों में भी रेल ने मार्ग निकाल लिया है। रेल से समय और धन दोनों की बचत हो जाती है।

व्यापारिक और आर्थिक लाभ

रेलगाड़ी के प्रचलित होने के पहले व्यापार नदियों के किनारे पर स्थित नगरों में ही छोटी-छोटी नावों द्वारा होता था। व्यापार उस समय बड़ा शिथिल था। एक प्रान्त का माल दूसरे प्रान्त में बड़ी कठिनता से लाया जाता था। अन्न, वस्त्र, आदि आवश्यक वस्तुएँ ही उस समय व्यापारिक महत्त्व रखती थीं। परन्तु रेल के जारी होने से व्यापार की बड़ी उन्नति हो गई है। आजकल माल एक स्थान से दूसरे स्थान पर बड़ी सुगमता और शीघ्रता से भेजा जा सकता है। भेजने का खर्च बहुत कम हो गया है। एक देश की अनोखी और उत्तम वस्तुएँ दूरस्थ दूसरे देशों में भी लगभग उसी कीमत पर मिल जाती हैं। आजकल इलाहाबाद के अमरूद, नागपुर

के संतरे, काश्मीर के दुशाले और फल, काबुल का ताज़ा मेवा, अहमदाबाद के स्वदेशी कपड़े, बरेली और आगरा की दरियाँ, कानपुर के उत्तम चमड़े के जूते, धारीवाल के ऊनी वस्त्र, पंजाब का अनाज, बंगाल के चावल और जूट, भरिया का कोयला, टीटागढ़ का कागज़, चुनार और रानीगंज के मिट्टी के बर्तन और बहजोई का काँच का सामान बड़ी सुगमता से भारतवर्ष के प्रत्येक शहर में बिकने के लिए पहुँच जाता है। फल जैसी जल्दी से जल्दी खराब होने वाली, पत्थर जैसी भारी, मशीन जैसी पेचीदा, काँच और चीनी के बर्तन जैसी नाज़ुक वस्तुएँ भी हज़ारों मील से चली आती हैं। तात्पर्य यह है कि रेल से देश के आंतरिक व्यापार की खूब वृद्धि हो गई है। व्यापार क्षेत्र बढ़ गया है। देश के आयात और निर्यात में काफी सहायता मिली है।

देश के भिन्न-भिन्न नगर रेलों द्वारा मिल गये हैं। दक्षिण के सुदूर देश और समुद्र-तट स्थित बन्दरों से लेकर उत्तर में हिमालय की घाटी तक के सब उपजाऊ मैदान और व्यापारिक क्षेत्र रेल द्वारा संबद्ध हो गये हैं। कच्चा माल भेजने में सुविधा होने के कारण देश में उद्योग-धन्धों को बड़ी सहायता मिली है। कला-कौशल, व्यापार और व्यवसाय आदि को सफल बनाने का मुख्य साधन रेल ही है। जो उपज कौड़ियों के मोल बिक जाती थी, अथवा अपने देश में ही पड़ी-पड़ी सड़ती रहती थी, वह अब पहले से दुगनी-चौगुनी कीमत में बिकती है। एक प्रान्त दूसरे प्रान्त की पैदावार से समुचित लाभ उठाता है।

रेल से अकाल के समय में बड़ी सहायता मिलती है। पहले एक ही देश में अकाल के समय एक प्रान्त के निवासी आराम से जीवन व्यतीत करते थे और दूसरे प्रान्त के निवासी क्षुधा से पीड़ित

हो तड़प-तड़प कर काल-कवलित हो जाते थे। किन्तु अब रेल द्वारा अन्य प्रान्तों से अन्न शीघ्र ही अकाल-पीड़ित स्थानों पर पहुँच जाता है। इस प्रकार रेल करोड़ों मनुष्यों को मृत्यु के मुख में जाने से बचाती है। सहस्रों मनुष्य रेल के कार्यालयों में काम करके अपना और अपने बाल-बच्चों का पालन करते हैं। नदी पर पुल बनाने, दर्रे और चट्टानों में से रेल का मार्ग निकालने में करोड़ों श्रमजीवियों और अनेक इंजीनियरों की आवश्यकता पड़ती है। ये लोग रेलों से केवल अपनी जीविका ही उपार्जन नहीं करते, वरन देश में विज्ञान और कला को भी प्रोत्साहन देते हैं। अब मज़दूर छोटे-छोटे गाँवों को छोड़कर कलकत्ता और बंबई आदि नगरों में भी जाने लगे हैं, इससे जहाँ उन नगरों की मिलों की उन्नति हुई है वहाँ हज़ारों बेकारों के लिए रोज़गारी का सिलसिला भी बन गया है। रोज़गार की कमी के कारण बेकार मज़दूर को अब अपने ही गाँव में पड़े-पड़े भूखे मरने की आवश्यकता नहीं। रेलों से देश के राजस्व में भी वृद्धि होती है। माल के इधर से उधर आने जाने से सरकारी आय खूब बढ़ जाती है। निष्कर्ष यह है कि देश की आर्थिक उन्नति में रेल पूरा-पूरा योग देती है।

सामाजिक और राजनीतिक उन्नति

सामाजिक और राजनीतिक विकास में भी रेलों ने सहयोग दिया है। रेलों के द्वारा अब जन-समुदाय एक स्थान से दूसरे स्थान को खूब जाने लगा है। वैवाहिक संबंध भी दूर-दूर के नगरों में होने लगे हैं। मेला-ठेला, जातीय उत्सव और सांप्रदायिक सभा सोसाइटियों में जनता अब खूब आने जाने लगी है। इससे सामाजिक संबन्ध दृढ़ हो गया है। स्वास्थ्य-लाभ के लिए लोग भिन्न-भिन्न स्थानों को जाने लगे हैं। सैर-सपाटे, मनोरंजन और

देशाटन के लिए भी लोगों की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई है। भौगोलिक ज्ञान बढ़ने के साथ ही साथ शिक्षा का विकास होने लगा है। अब छोटे-छोटे शहरों के विद्यार्थी उच्च शिक्षा के लिए बड़े-बड़े शहरों और शिक्षा-केन्द्रों में जाने लगे हैं। अब तक भारतवर्ष में एक जाति और धर्म के मानने वाले बंगाली, मराठी, बिहारी और पंजाबी आपस में एक दूसरे को भिन्न-भिन्न समझते थे, किन्तु रेल के पदार्पण करने से और परस्पर मिलने के कारण भाव-विनिमय में बड़ी सहायता मिली है। एक प्रान्त के आचार-विचार, रीति-रिवाज और सामाजिक नियम दूसरे प्रान्त वाले अपनाने लगे हैं।

राज्य के लिए भी रेल बड़ी लाभदायक है। अशान्ति, विप्लव राज्यक्रांति और युद्ध के समय सरकार सेना को एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में रेल के द्वारा बड़ी आसानी और शीघ्रता से भेज सकती है। इसके अतिरिक्त सेना के लिए खाद्य-पदार्थ, युद्ध-सामग्री और अन्य वस्तुएँ भेजने में भी बड़ी सुविधा रहती है। राज्य के इन कार्यों को रेल मितव्ययिता के साथ कर सकती है और आंतरिक शासन में भी कोई कठिनता नहीं पड़ती। रेल द्वारा डाक का सुप्रबन्ध भी आसानी से हो जाता है। वर्तमान समय में रेलों से ही डाक भेजी जाती है। सरकार की आय-वृद्धि होने से देश की पूँजी अन्य सदुपयोगी कार्यों में व्यय हो सकती है, इस कारण राष्ट्र का भी भला हो जाता है। वास्तव में रेल राजा-प्रजा, रंक-राव, सेठ-साहूकार, गृहस्थ-साधु, यात्री-व्यवसायी सब के लिए लाभदायक है।

त्योहारों का महत्त्व

मनुष्य एक सामाजिक जीव है। समाज में रह कर आनन्द मनाना मनुष्य की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। मनुष्य वित्तोपार्जन अथवा पठन-पाठन में सदा नहीं लगा रह सकता। नित्य के कामों से छुट्टी पाकर वह कभी-कभी अपने घर-बार के लोगों के साथ आनन्द मनाना चाहता है। त्योहार इसी मानव प्रवृत्ति के फल हैं। यद्यपि सब त्योहारों में थोड़ा बहुत धार्मिक भाव लगा रहता है तथापि उनके प्रारंभ होने के भिन्न-भिन्न कारण होते हैं। कोई, त्योहार तो जातीय इतिहास की किसी मुख्य घटना से संबध रखते हैं; जैसे विजया-दशमी (यद्यपि इस त्योहार का और भी महत्त्व है तथापि इसका विशेष संबन्ध श्रीरामचन्द्र जी की रावण पर विजय से है)। कई-त्योहार ऋतु परिवर्तन और कृषि आदि से संबन्ध रखते हैं; जैसे होली, वसन्त आदि। कई त्योहार अवसरों और महापुरुषों के जन्म-दिवस आदि के उपलक्ष्य में मनाये जाते हैं; जैसे कृष्ण-जन्माष्टमी, गणेश-चतुर्थी, रामनवमी आदि। किन्हीं त्योहारों का केवल धार्मिक महत्त्व है, यद्यपि उनमें भी ऋतु का थोड़ा-बहुत संबन्ध लगा होता है, जैसे श्रावणी। ये त्योहार प्राय: सभी जातियों में होते हैं। ईसाइयों के त्योहारों में बड़ा दिन और मुसलमानों के त्योहारों में ईद मुख्य हैं।

त्योहार जातीय जीवन के प्रधान अंग होते हैं। इन के द्वारा त्योहार मनाने वालों में एक विशेष प्रकार का ऐक्यभाव स्थापित हो जाता है। लोग यह अनुभव करने लगते हैं कि वे सब एक जाति और एक धर्म वाले हैं। इस प्रकार वे सब एक प्रेम-सूत्र में बँध

जाते हैं। यदि लोग विदेश में जाकर भी इन त्योहारों को मनाते हैं तो वहाँ इनके द्वारा उनका अपने अन्य देश-वाशियों के साथ घनिष्ठतम सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। देश में भी इनका बड़ा सामाजिक महत्त्व है। रिश्तेदार एक दूसरे के घर आते जाते हैं; एक दूसरे को उपहार वा भेंट भेजते हैं। बाल-बच्चों को आमोद-प्रमोद का मौका मिल जाता है। इन त्योहारों द्वारा जातीय संस्कृति भी कायम रहती है और उन से जातीय भाव भी पुष्ट होते रहते हैं। इन के द्वारा जाति की मानसिक प्रवृत्तियों का भी पता चलता रहता है, जैसे नाग-पंचमी से अहिंसा-वृत्ति और गोवर्धन-पूजा से पशु-पालन के महत्त्व का।

ऋतु-परिवर्तन सम्बन्धी त्योहार शुभ कार्यों के आरंभ करने में प्रोत्साहन देते हैं। उन के द्वारा समय के विभाग का भी ज्ञान बना रहता है। समय का ध्यान न रखना बड़ी मूर्खता और अज्ञता है। लोग कहने लगते हैं कि इसको तो वसन्त की भी खबर नहीं है। इन त्योहारों का महत्त्व तत्कालीन प्राकृतिक सौन्दर्य के निरीक्षण से है। वसन्त पर आम के बौर तथा अन्न के बाल की पूजा होती है। लोग खेतों में लहलहाती हुई पीली सरसों के खेतों को देखने जाते हैं। शरद्-पूर्णिमा के दिन पूर्णचन्द्र की शुभ्र ज्योत्स्ना का आनन्द लेते हैं। इन त्योहारों पर लोग ऋतु के फल खाकर अपने जीवन को भी ऋतु के अनुकूल बनाते हैं।

महापुरुषों के जीवन-संबंधी त्योहार हमारे मन में उनके प्रति श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न कर उनके चरण-चिह्नों पर चलने के लिए हमें प्रोत्साहन देते हैं। उन त्योहारों पर उन महात्माओं के गुण गाकर हमें उन गुणों को अपने जीवन में स्थान देने के लिए प्रेरणा मिलती है।

इन जातीय त्योहारों को मनाना हमारा परम कर्त्तव्य है। इनके द्वारा हम जातीय जीवन जाग्रत रख सकते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि हम इन त्योहारों का महत्त्व भूलते जाते हैं। आज कल ज्ञान और विज्ञान का युग है। हम जो कुछ करें अन्धविश्वास और परंपरा के अनुकरण में न करें। परंपरा का अनुकरण भी बुरा नहीं है, क्योंकि उसमें संगठन की भावना रहती है; किन्तु यदि हम उनका महत्त्व भी समझ लें तो बड़ी ही उत्तम बात है। बहुत से त्योहारों में संशोधन और परिवर्तन की भी आवश्यकता है, जैसे दीवाली के शुभ अवसर पर लोग जुआ खेलते हैं। जुआ खेलना लक्ष्मी-पूजा नहीं है। जुए की हार से जो मानसिक ग्लानि होती है वह त्योहार की प्रसन्नता को दबा लेती है। इसी प्रकार होली में कीचड़ फेंकना और गाली देना सभ्यता के विरुद्ध है। यह त्योहार सब लोगों में समता का भाव स्थापित करने लिए मनाया जाता था। समता दूसरों को अपने बराबर उठाने में है न कि उनके बराबर नीचे गिरने में। इन त्योहारों को प्रेम और ऐक्य-भाव बढ़ाने का साधन बनाना चाहिए और इनके द्वारा विचारों के आदान-प्रदान तथा काव्य-कला आदि की वृद्धि का आयोजन करना चाहिए। पूर्वकाल में वसन्तोत्सव पर नाटक आदि खेले जाते थे, उनके द्वारा आमोद-प्रमोद ही नहीं होता था वरन् साहित्य की वृद्धि भी होती थी। इन त्योहारों के अवसरों पर जातीय खेल-कूदों के प्रचार की भी व्यवस्था करनी चाहिए। बहुत से स्थानों पर नाग-पंचमी पर कुश्तियाँ होती हैं। जिन प्रथाओं के द्वारा जनता में जीवन-स्फूर्ति पैदा हो उन्हें जारी रखने और उनके प्रचार करने की अत्यन्त आवश्यकता है। श्रावण में झूला आदि द्वारा स्त्रियों का अच्छा व्यायाम हो जाता था। ऐसी

प्रथाओं को पुनर्जीवन देने की आवश्यकता है। त्योहारों के अवसर पर कवि-सम्मेलन और प्रदर्शिनी आदि की आयोजना करना परम वांछनीय है। ऐसा करने से केवल हमारे आनन्दोल्लास की भावना की ही तृप्ति न होगी वरन् हम में शिक्षा का प्रचार भी बढ़ेगा और कला-कौशल की उन्नति के साथ देश की भी उन्नति होगी।

ग्राम-वास अथवा नगर-वास

प्रवेश

प्रायः हम सभी जानते हैं कि ग्राम किसे कहते हैं और नगर अथवा शहर किसे कहते हैं। ग्राम साधारण कोटि के प्रायः कच्चे मकानों के छोटे समूह को कहते हैं। इनके चारों ओर खेत, खुले मैदान, चरागाह और फलदार वृक्षों के बाग या जंगल होते हैं। इन में मकानों की संख्या कम होने के कारण इनके निवासी अपना जीवन प्रायः खुले मैदानों और खेतों में व्यतीत करते हैं। शहरों में आबादी अधिक और घनी होती है और उनमें मकानों का ताँता इतनी दूर तक चला जाता है कि उनके रहने वाले अपने को मकानों के बीच में ही घिरा पाते हैं। इसके अतिरिक्त उनके संगठन, रहन-सहन और व्यवहारों में अंतर होता है। दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। दोनों ही में अपने-अपने आनन्द हैं और दोनों ही में अपनी अपनी कठिनाइयाँ हैं।

ग्राम्य जीवन के आनन्द

ग्रामवासी प्रकृति की गोद में पलते हैं। दिन भर खुले मैदान में सारा दिन गुज़ारते हैं। सूर्य की रश्मियाँ, स्वच्छ खुला वायु और दिनभर की दौड़ धूप ग्राम-वासियों के शरीर को हृष्ट-पुष्ट और स्फूर्तिमय बना देती हैं। प्राकृतिक घटनाएँ ही उनके जीवन को नियमित करती हैं। ग्राम-कुक्कुट की पुकार उनको जगाने वाली घड़ी है। वे सवेरे ही घर से बाहर आ प्रकृति के खुले आँगन में खेलने लगते हैं। शस्य-श्यामला, सुजला, सुफला, मलयज-शीतला, मातृ-भूमि के पुण्य दर्शनों का लाभ उन्हीं को मिलता है।

ग्रामवासी शहर की झंझटों से दूर रहते हैं। बड़े-बड़े कारखानों की चिमनियों का धुआँ उनके पास की वायु को मैला नहीं बनाता। घोड़ों की टाप, मोटरों की पों पों और कल कारखानों की खट-खट उनकी सुख-निद्रा में बाधा नहीं डालती। उनका भोजन सरल और स्वास्थ्यकर होता है। उनके यहाँ ताजा दूध, दही, मक्खन हर समय खाने के लिए तैयार रहता है। फसल का अन्न और ऋतु के फल सब से पहले उन्हीं को मिलते हैं।

ग्राम-वास की कठिनाइयाँ

ग्राम-वास में कुछ कठिनाइयाँ अवश्य हैं किन्तु वे ऐसी नहीं कि उनका निराकरण न हो सके। ग्राम में सफ़ाई की बड़ी कमी होती है। कूड़ा-करकट घरों के बाहर ही फेंक दिया जाता है, गंदे पानी की निकासी का कोई प्रबन्ध नहीं होता, जिससे मक्खी-मच्छर बहुत होते हैं। शिक्षा के साधनों का अभाव होता है। स्कूल पाठशालाएँ आदि बहुत कम होती हैं, उच्च शिक्षा के साधनों का तो बिलकुल ही अभाव होता है। पुस्तकालय तथा वाचनालय आदि कोई नहीं होता। समाचार-पत्र बहुत कम पहुँचते

हैं। आधुनिक वैज्ञानिक सुविधाओं—बिजली आदि का अभाव होता है। बीमारी की हालत में कोई अच्छा डाक्टर या दवाई मिलना कठिन होता है। पर अब पढ़े-लिखे लोगों का ध्यान ग्राम-सुधार की ओर आकर्षित हो रहा है। सरकार भी ग्राम-वासियों की दशा सुधारने का यत्न कर रही है।

नगर-वास के लाभ

नगर-वास में सबसे बड़ा लाभ शिक्षा का है। नगर में नाना प्रकार के विद्यालय होते हैं। नगर विचार-शक्ति के केन्द्र हैं। सारे सुधारों की आयोजनाएँ नगरों से ही उठती हैं। नगर में मानव-मस्तिष्क की महत्ता का परिचय मिलता है। नगर में मनुष्य प्रकृति के शासक के रूप में दिखाई पड़ता है। बिजली उसकी सेवानुवर्तिनी बनकर उसके घर को आलोकित और परिष्कृत करती है। ज़रा बटन दबाने की देर नहीं कि सारा शहर शुभ्र प्रकाश से चमक उठता है। नई देहली को देखिए। उसमें उजेले और अँधेरे पाख में अंतर ही नहीं मालूम होता। गर्मी में बिजली का पंखा और जाड़ों में बिजली की अँगीठी मनुष्य को शीत और उष्ण के आक्रमणों से बचाये रखती है। शहर में यद्यपि बीमारियाँ अधिक होती हैं तथापि उनके निवारण के साधन भी मौजूद रहते हैं।

नगरवास की हानियाँ

नगरों के रहने वाले तंग मकानों में बंद रहते हैं। वे जिधर दृष्टि डालते हैं उधर मकान ही मकान दिखाई पड़ते हैं। लोग छोटी-छोटी कोठरियों में भेड़ बकरियों की भाँति बंद रहते हैं। घर से निकल कर भी लोग दफ्तरों और दुकानों के कैदखाने में पड़ जाते हैं। दिन में भी बिजली जलानी पड़ती है। सूर्य देव के स्वास्थ्यकर प्रकाश से वे वंचित रहते हैं। हाथ पैर चलाने का भी

उन्हें मौका नहीं मिलता। साइकल और मोटरकारों से समय की बचत अवश्य होती है किन्तु लोग ग्रामवासियों की अपेक्षा कमज़ोर हो जाते हैं। स्त्रियाँ घरों में रहते रहते क्षय-रोग से ग्रस्त हो जाती हैं और समय से पूर्व ही मृत्यु के मुख में पहुँच जाती हैं। लोग खुली वायु के लिए तरसते हैं और उसके लिए उन्हें बहुत कीमत देनी पड़ती है।

नगरों का जीवन बड़ा कृत्रिम और बड़ा मँहगा है। सारा जीवन कृत्रिम बन्धनों से बँधा रहता है। समय समय के कपड़े और समय समय के जूते मनुष्य का दिवाला निकाल देते हैं। बढ़ती हुई फिज़ूलखर्ची के कारण मनुष्य को धन कमाने के लिए रात-दिन एक कर देना पड़ता है। बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे बहुत बार अनुचित उपायों का भी आश्रय लेना पड़ता है। दिन भर उसे ज़रा भी चैन नहीं मिलता। कहीं इस सभा में जाना है तो कहीं उस डेपूटेशन में शामिल होना है। न घर की खबर रहती है, न बाल-बच्चों की। न समय पर खाना मिलता है, न समय पर सोना।

उपसंहार

ग्रामवास तथा नगरवास दोनों ही के लाभ हैं और दोनों ही में कुछ सुधार की आवश्यकता है। शहर-वासियों को चाहिए कि वे शिक्षा और ओषधियों आदि के प्रचार से ग्राम-वासियों को लाभ पहुँचावें। ग्रामवासियों का सुधार करते हुए शहर वाले अपने सुधार को न भूल जावें। वे मशीनों से लाभ उठावें किन्तु मशीनों के गुलाम न बन जावें। प्रकृति की उपासना के लिए समय निकालें किन्तु प्रकृति के बिलकुल दास न बन जावें। उन्हें चाहिए कि स्वयं परिश्रम करके अपने जीवन को स्वच्छ, सरल और स्वाभाविक बनावें।

दादा बड़ा न भैया, सब से बड़ा रुपैया

सचमुच ही संसार में रुपया सबसे बड़ी चीज़ है। इसके सामने कोई बड़ा बन कर खड़ा नहीं रह सकता। सबको छोटा बनना पड़ता है। बच्चे से लेकर बूढ़े तक इसे बड़ा मानते हैं, बड़ा समझते हैं और देवता की तरह पूजते हैं। प्रायः देखा जाता है और यदि कहीं रुपये की बाबत कोई झगड़ा खड़ा हो जाय, तो संसार में पिता पुत्र की परवाह नहीं करता और पुत्र पिता के प्रति अपने कर्तव्यों को भूल जाता है। रुपये के कारण ही भाई भाई आपस में जानी दुश्मन हो जाते हैं।

रुपये-पैसे का वास्तविक ज्ञान न होते हुए भी बचपन से ही मनुष्य उससे प्रेम करना आरंभ करता है। यह प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाता है और मनुष्य के हृदय में उसी गति से रुपये के प्रति मोह की भावना बढ़ती जाती है। बचपन में केवल एक पैसा पा कर, जो अनन्त आनन्द और संतोष होता है, बड़ी अवस्था में हज़ारों, लाखों और करोड़ों रुपये पाकर भी वैसा आनन्द और संतोष प्राप्त नहीं होता। मनुष्य की प्रत्येक नस में रुपये के प्रति ऐसा अनुराग पाया जाता है, जिसका वर्णन करना कठिन ही नहीं, वरन् असंभव है। मनुष्य रुपये को ही अपना सर्वस्व समझता है। उसके लिए वह दिन-रात कर्तव्य-अकर्तव्य धर्म-अधर्म किसी का ख़याल नहीं करता।

जब रुपये की मात्रा बढ़ जाती है, तो मनुष्य उसी के बल पर अपने आपको और संसार को नाच नचाता है। असत्य को सत्य, पाप को पुण्य, गलत को ठीक, व्यभिचार को सदाचार, पापात्मा

को धर्मात्मा और धूर्त को सज्जन बनाने वाला रुपया जगत की आँखों पर पर्दा डाल लेता है। रुपये की सफेदी के सामने संसार की आँखें चुँधिया जाती हैं और वे दुर्गुणों को नहीं देख सकतीं। प्राय: देखा जाता है कि अदालतों में झूठे मुकदमे वाले अपने धन के बल पर सच्चे बन जाते हैं और दुनियाँ ऐसे लोगों की सचाई का समर्थन करती है।

रुपये के रुष्ट होने पर मनुष्य का जीवन दु:खमय हो जाता है। भाई-बन्धु, मित्र और नातेदार भी मुँह मोड़ लेते हैं। यहाँ तक कि रुपये से रहित मनुष्य के लिये संसार में जीना भी कठिन हो जाता है। एक संस्कृत कवि का कहना है—"सर्वे गुणा: काञ्चनमाश्रयन्ति" अर्थात् सब गुणों का आश्रय धन ही में है। धन न हो तो मनुष्य गुणवान होता हुआ भी गुणहीन है। सच तो यह है कि जिसके पास रुपया है, वह पुण्यात्मा है, धर्मात्मा है, राजा है, बादशाह है, मालिक है, स्वामी है, परोपकारी है, दीनबन्धु है, और सब कुछ है।

इस लिए यदि संसार में बड़ा बनना हो, तो रुपये की आराधना करनी चाहिए। रुपये से संसार की कोई भी अलभ्य वस्तु खरीदी जा सकती है। विद्या, परमार्थ, परोपकार, धर्म, सुख, ऐश्वर्य, पुण्य—सभी कुछ रुपये से खरीदा जा सकता है। व्यभिचार और संसार में बड़े से बड़ा पाप भी रुपये की छत्रच्छाया के नीचे अनन्त-पुण्य का रूप धारण कर लेता है। उसे कोई कुछ नहीं कह सकता है—सब कोई उससे डरते हैं। फिर भला क्यों न कहें—

"दादा बड़ा न भैया, सब से बड़ा रुपैया"।

मधुर भाषण

कोयल काको देत है, कागा कासों लेत।
तुलसी मीठे वचन सों, जग अपनो करि लेत॥

संसार में मृदुभाषी या मीठा बोलने वाले लोगों को हर कोई श्रद्धा, सम्मान और प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखता है। ऐसे लोग सहज ही में सर्व साधारण की सहानुभूति प्राप्त कर लेते हैं। जहाँ-कहीं वे बात करेंगे, चार आदमी उनकी बातों को ध्यान-पूर्वक सुनेंगे; उनके विचारों का मूल्य होगा। मृदुभाषी की बातों से दूसरों के मन तो शान्त होते ही हैं; मृदुभाषी की अन्तरात्मा भी विचित्र शान्ति का अनुभव करती है। उसी शान्ति में आनन्द, सुख और यश अन्तर्हित रहते हैं। इन्हीं विचारों को कबीर जी अपने एक दोहे में इस प्रकार कहते हैं—

ऐसी बानी बोलिये मन का आपा खोय।
औरन को सीतल करै, आपहुँ सीतल होय॥

मृदुभाषी मनुष्य सबका प्यारा होता है। उससे द्वेष तो कोई करता ही नहीं, क्योंकि वह स्वयं किसी से द्वेष नहीं करता। जब द्वेष नहीं होता, तो सभी कार्यों में ऐसे मनुष्यों को पूर्ण सफलता प्राप्त होती है। पग-पग पर आने वाली रुकावटें अपने आप हल हो जाती हैं। लोग आप से आप ऐसे मनुष्यों की सहायता करने के लिए उद्यत हो जाते हैं।

मृदुभाषी मनुष्य के हृदय से 'अहंभाव' अर्थात् झूठे अभिमान का भी लोप हो जाता है। संसार में 'अहंभाव' ही एक ऐसा दुर्गुण है, जो मनुष्य की सफलता में भारी बाधक है। और इस दुर्गुण का बीज मृदुभाषी के हृदय में उग ही नहीं सकता यह बात स्वयं सिद्ध है।

परन्तु जो मृदुभाषी नहीं होते, जिनकी वाणी हमेशा कतरनी का-सा काम करती है, वे अभागे असफलता से छुटकारा नहीं पा सकते। ऐसों का जीवन दुखों से भरा रहता है; क्लेश और कलह ही में उनकी ज़िन्दगी का अधिकांश नष्ट हो जाता है। जन-साधारण की सहानुभूति तो ऐसों को मिलनी असंभव होती ही है, उनके निकट संबन्धी और बन्धु तक भी उनसे दूर रहने का भरसक प्रयत्न करते हैं, क्योंकि किसी भी समय वे उनसे भी उलझ सकते हैं।

उक्त दोहा, जिसके आधार पर यह निबन्ध लिखा जा रहा है, इस बात की स्पष्ट घोषणा कर रहा है कि मीठे वचनों से दूसरों को अपने वश में किया जा सकता है या दूसरों का स्नेह-भाजन बना जा सकता है। मीठे-वचन सफलता की कुंजी हैं और यात्रा निर्विघ्न समाप्त करने के लिए सरल मार्ग हैं।

संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, उनके सद्‌गुणों की आधार-शिला में यही गुण है। भगवान् कृष्ण के जीवन पर दृष्टि-पात करने से मालूम होता है कि उन्होंने किसी भी समय इस गुण को हाथ से नहीं जाने दिया। कौरवों के कठोर वचनों को भी उन्होंने मृदु मुसकान से ग्रहण किया और अन्त में वह सफलता और श्रेय के भागी बने। महात्मा गांधी को देखिये, वे मृदु भाषा द्वारा विरोधियों को भी अपने पक्ष में कर लेते हैं। इस लिए मनुष्य को चाहिए कि वह सदा मीठा बोल बोले। बड़ों का कहना है कि तलवार का घाव भर सकता है, लेकिन बात का घाव नहीं भरता। और यह 'बात का घाव' मीठे वचनों के अभाव में ही होता है, जिसका अन्तिम परिणाम द्वेष और कलह है। इससे बचकर रहना ही सुख, शांति और समृद्धि का कारण है। मृदुभाषी सब के स्नेह-भाजन होते हैं।

पुस्तकालय

पुस्तकों का संग्रह जिस स्थान पर हो उसे पुस्तकालय कहते हैं। ये प्राय: दो प्रकार के होते हैं। एक निजू, दूसरे सार्वजनिक। जो व्यक्ति-विशेष के तथा उससे संबंध रखने वाले लोगों के लाभ के लिए होते हैं वे निजू कहलाते हैं और जिनमें कुछ शर्तों के पालन करने पर सबको समान अधिकार होते हैं वे सार्वजनिक कहलाते हैं। यहाँ पर पुस्तकालयों के संबंध में जो बातें लिखी जा रही हैं, यद्यपि वे विशेष रूप से सार्वजनिक पुस्तकालयों के लिए हैं तथापि थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ वे निजू पुस्तकालयों के लिए भी कही जा सकती हैं।

हमारी शिक्षा स्कूल और कालेजों में ही खतम नहीं हो जाती। विचारशील मनुष्य निरीक्षण तथा अध्ययन से सदा अपने ज्ञान की वृद्धि करता रहता है। स्कूल और कालेजों में भी शिक्षा पाते हुए हमको पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य पुस्तकों द्वारा अपने ज्ञान की पूर्ति के लिए सहकारी शिक्षा की आवश्यकता रहती है। हमारा किसी विशेष विषय का ज्ञान तभी परिपक्व होता है जब कि हम उससे संबंध रखने वाले विषयों से थोड़ा बहुत परिचय प्राप्त कर लें। भौतिक विज्ञान और गणित के बिना ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान पूरा नहीं होता। इसी प्रकार कृषि शास्त्र के अच्छे ज्ञान के लिए रसायन शास्त्र और वनस्पति शास्त्र का ज्ञान अपेक्षित रहता है। विद्यार्थी लोग अपनी पाठ्य-पुस्तकें ही जैसे-तैसे खरीद सकते हैं। इसलिए सहकारी-शिक्षा के लिए उनको पुस्तका[illegible] की शरण लेनी पड़ती है। पाठ्य-क्रम की बहुत सी ऐसी [illegible] होती हैं जिनकी व्याख्या के लिए विद्यार्थियों को दूसरी पुस्तकों [illegible] सहायता

लेनी पड़ती है। उनमें से बहुत सी पुस्तकें सहज में प्राप्त भी नहीं हो सकतीं। ऐसी अवस्था में पुस्तकालयों से उन पुस्तकों को लेकर लाभ उठाया जा सकता है।

जो लोग ग्रंथों की रचना करते हैं, उनके लिए तो पुस्तकालय एक ईश्वरीय वरदान स्वरूप है। लेखक को पद-पद पर दूसरी पुस्तकों की सहायता लेनी पड़ती है। वे सब पुस्तकें किसी एक लेखक के लिए एकत्र करना बड़ा ही कठिन कार्य है। यदि एक लेखक किसी प्रकार एकत्र कर भी ले तो उस संग्रह से दूसरे लोग लाभ नहीं उठा सकते। पुस्तकालयों द्वारा एक नहीं सैकड़ों लेखक अपनी-अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर सकते हैं। पुस्तकालय ऐसा अक्षय कोष है कि उससे चाहे जितने लोग लाभ उठावें किन्तु वह वैसा का वैसा भरपूर बना रहता है।

बहुत सी मनोरंजन की ऐसी पुस्तकें भी होती हैं जिनकी उपयोगिता एक बार के पठन से ही समाप्त हो जाती है। उनके लिए पैसा खर्च करना अपव्यय है। पुस्तकालयों में ऐसी पुस्तकों का भंडार रहता है। उन पुस्तकों द्वारा लोग अपना मनोरंजन कर सकते हैं। सार यह है पुस्तकालय विद्यार्थियों के लिए विश्व-विद्यालयों का काम देते हैं, ज्ञान-पिपासुओं के लिए अमृत के स्रोत होते हैं और समय बिताने के लिए सब से सस्ते और निरापद व्यसन हैं।

प्राचीन काल में भी यद्यपि पुस्तकालय होते थे, तथापि आज कल इनका प्रचार बहुत बढ़ गया है। भिन्न-भिन्न पुस्तका-लयों के सूचीपत्रों से ही एक छोटा-सा पुस्तकालय बन सकता है। विदेशों में कुछ पुस्तकालय ऐसे हैं जिनका विस्तार मीलों तक चला गया है। लंडन के ब्रिटिश म्यूज़ियम का पुस्तकालय बहुत बड़ा

है। ब्रिटिश साम्राज्य में छपी हुई हर एक पुस्तक की एक-एक प्रति वहाँ अवश्य जाती है। भारतवर्ष में कलकत्ता, बंबई, लाहौर, इलाहाबाद आदि नगरों में अच्छे अच्छे पुस्तकालय हैं।

पुस्तकालयों में जो कोई चाहे जाकर वहाँ बैठकर पुस्तकें पढ़ सकता है। पाठकों को पुस्तकालय का कर्मचारी पुस्तकें निकाल कर दे देता है। कहीं-कहीं स्वयं ही निकालने की आज्ञा रहती है। पाठकों के लिए कुर्सियाँ भी रहती हैं जिन पर बैठ कर लोग आराम से एकान्त में अध्ययन कर सकते हैं। पुस्तकालयों में पूर्ण शान्ति और निस्तब्धता का राज्य रहता है, जिससे किसी के अध्ययन में विघ्न न पड़े। कुछ जमानत जमा करा देने पर और कुछ वार्षिक चंदा देने पर सार्वजनिक पुस्तकालयों का मेंबर भी बना जा सकता है। मेंबर लोग पुस्तकालय की पुस्तकें अपने घर पर भी ले जा सकते हैं और कुछ दिन के लिए अपने पास रख भी सकते हैं। बड़ौदा राज्य में तो चलते फिरते पुस्तकालय हैं, जो गाँव में रहने वाले लोगों को उनके घर पर ही पुस्तकें पहुँचा देते हैं। संयुक्त प्रांत में भी गावों में आजकल चलते फिरते पुस्तकालय खुल रहे हैं। पुस्तकालय वास्तव में बड़ी उपयोगी संस्था है। इससे प्रत्येक शिक्षित मनुष्य को लाभ उठाना चाहिए।

'निज कारण दुख ना सहो, सहो पराए काज'

मनुष्य का जीवन क्षण-भंगुर है। पता नहीं किस समय काल रूपी राक्षस इसे अपना कौर बना ले। संसार में मनुष्य आते हैं और चले जाते हैं, लेकिन उन्हीं मनुष्यों की याद बनी रहती है, जो परोपकार में अपने जीवन को लगाए रहते हैं। भक्त कबीरदास इस संबन्ध में कहते हैं।

वृच्छ कबहुँ नहिं फल भखैं, नदी न संचै नीर।
परमारथ के कारने, साधुन धरा सरीर॥

अर्थात् वृक्ष कभी स्वयं फल नहीं खाते, वे दूसरों के लिए ही वे फलों को धारण करते हैं, नदियाँ भी कभी अपने लिए पानी इकठ्ठा करके नहीं रखतीं, पर दूसरों के लिए पानी बहाती हैं; इसी प्रकार सज्जन पुरुष भी परमार्थ के लिए ही शरीर धारण करते हैं। जो लोग कबीर के उक्त दोहे के अनुसार आचरण करते हैं, सच-मुच वे ही सज्जन हैं और उन्हीं का शरीर धारण करना सार्थक है।

इस प्रकार जो लोग दूसरों के लिए जीवन को खतरे या कष्ट में डालते हैं; वही परोपकारी होते हैं। परन्तु यदि कोई स्वार्थवश परोपकार करे, तो उसे परोपकारी नहीं कह सकते; क्योंकि परोपकार में स्वार्थ या निज हित-साधन का लेशमात्र भी नहीं होना चाहिए। उदाहरणार्थ—यदि कोई मनुष्य कोई खिताब या उपाधि लेने के लिए अथवा प्रसिद्धि के लिए कोई पाठशाला या औषधालय खुलवा देता है, अथवा राज्य-भय या समाज-भय से किसी संस्था आदि में दान देता है तो वह परोपकारी नहीं कहलायगा।

हमारे देश में 'निज कारण दुख ना सहो सहो पराए काज' का ढोल पीटने वाले असंख्य मनुष्य मौजूद हैं। कोई अनाथों की रक्षा के लिए दर-दर भीख माँगता फिरता है, कोई गो-रक्षा के लिये भटकता है, कोई विधवाओं और अछूतों आदि की करुण पुकार सुना-सुना कर चंदा माँगता फिरता है, परन्तु ऐसा करनेवालों में अधिकांश लोग अपने पेट को ही पालने भर के लिए होते हैं। वे भले ही कहें कि हम 'पराए काज' के लिए कष्ट झेल रहे हैं, किन्तु वास्तव में वे ऐसे होते नहीं। ऐसे लोगों की बातों को एक ओर छोड़कर हम देखते हैं कि हमारे देश में सच्चे और निःस्वार्थ भाव से सेवा करने वाले सज्जन भी हैं। महात्मा गांधी का नाम कौन नहीं जानता ? कौन उन्हें परोपकारी नहीं कहेगा ? महात्मा जी देश और जाति के लिए प्राण तक गँवा देने को तैयार हैं। पिछले दिनों उन्होंने हरिजनों के लिए प्राणों की बाजी लगा दी थी। उनका अब तक का सारा जीवन दूसरों के लिए कष्ट झेलने में ही बीता है और अब भी वे दूसरों के लिए दुःख और आपत्तियाँ सहन कर रहे हैं। उनकी इस सेवा में लेशमात्र भी स्वार्थ नहीं—केवल परमार्थ है।

इसी प्रकार महात्मा ईसा, महात्मा बुद्ध, स्वामी दयानन्द आदि ने भी दूसरों की भलाई में ही अपने प्राणों का उत्सर्ग किया था। महात्मा ईसा को इसीलिए सूली पर चढ़ाया गया था कि वे मनुष्यों को मनुष्यता का उपदेश देते थे। स्वामी दयानन्द को भी केवल इसी बात पर विष दिया गया था कि वे सत्यमार्ग का उपदेश देते थे। प्राचीन काल में भी कितने ही ऐसे महानुभाव हो चुके हैं जिन्हों ने अपने सुख दुख का कुछ भी खयाल नहीं किया, दूसरों के लिए अपना जीवन तक दे दिया। उनमें महाराज शिवि और दधीचि

का नाम सब से अधिक प्रसिद्ध है। शिवि ने एक कबूतर की रक्षा के लिए उसके तोल के बराबर अपने शरीर का मांस काट कर दे दिया था और दधीचि ने देवताओं की रक्षा के लिए अपने शरीर की हड्डियाँ तक दे दी थीं। इसी कारण इनका नाम सदा के लिए अजर अमर हो गया है।

हम को भी चाहिए कि जहाँ कहीं किसी को विपत्ति में देखें अपने सुख दुःख की परवाह न करके, उस की सहायता करने का यत्न करें। यदि हम किसी एक भी प्राणी का दुःख दूर कर सकें तो हमें अपना जीवन सफल समझना चाहिए।

हिम्मत बिन किस्मत नहीं

भारतवर्ष में बहुत से लोग ऐसे हैं जो किस्मत वा भाग्य में विश्वास रखते हैं। उन लोगों का कथन है कि जो कुछ संसार में होता है और होगा उसको ईश्वर ने पहले ही से निर्धारित कर रक्खा है। हम अपने उद्योग से उसे अन्यथा नहीं कर सकते। हिन्दू लोग तो पूर्व जन्मों के कर्मों को भाग्य के निर्माण का कारण भी बतलाते हैं, किन्तु और धर्म वाले भाग्य को ईश्वर की अकारण इच्छा का फल बतलाते हैं। जो हो भाग्यवादी लोग एक प्रकार से आलसी और निराशावादी हो जाते हैं। लोगों की यह धारणा ठीक नहीं कि हम अपने उद्योग और पुरुषार्थ से अपने भाग्य को बदल नहीं सकते। ईश्वर ने हमको विवेक, बुद्धि और संकल्प शक्ति दी है कि हम दो मार्गों में से एक मार्ग निश्चित कर

सकें । यदि ईश्वर को सब काम अपनी ही इच्छा से करना होता तो वह मनुष्य को बुद्धि, विवेक और साहस न देता । इसके साथ ही यदि ईश्वर ही सब कुछ करता होता तो ईश्वर मनुष्य को भले बुरे का उत्तरदायी न ठहराता और न शास्त्र के उपदेश का कुछ फल होता । ईश्वर ने मनुष्य को स्वतन्त्र बनाया है । मनुष्य ही अपने भाग्य का विधायक है । वह अपने इस जन्म के कर्मों से पिछले जन्म के फलों को उसी प्रकार दूर कर सकता है, जिस प्रकार आज उपवास रखने से हम पिछले दिन का अजीर्ण दूर कर सकते हैं ।

पुरुषार्थ के बिना कुछ काम नहीं होता । नीति में कहा है कि "उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः" और "न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः" अर्थात् उद्योगी वीर पुरुष को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है तथा सोते हुए सिंह के मुख में मृग नहीं चले जाते— सिंह को भी बिना हाथ-पैर चलाए भोजन नहीं मिलता । किस्मत का सहारा प्रायः आलसी लोग लिया करते हैं । गोस्वामी तुलसी-दास जी ने कहा है:—

"**कादर मन कहँ एक अधारा, दैव दैव आलसी पुकारा ।**"

संसार में लोगों ने जो कुछ सफलता प्राप्त की है अपने उद्योग से ही की है । जो उद्योग नहीं करता उसको ईश्वर भी सहारा नहीं देता । जो लोग हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहते हैं, उनको ईश्वर भी कहाँ से देगा ? हर एक काम के लिए कुछ साधन चाहिए । जब तक उन साधनों को काम में न लाया जावे तब तक फल की प्राप्ति नहीं हो सकती । कुएँ में बिना डोरी लोटा डाले पानी अपने आप नहीं निकल आता । यदि भाग्य है भी, तो बिना पुरुषार्थ के वह निष्फल रहेगा ।

संसार में जितने बड़े आदमी हुए हैं और जिन्होंने इतिहास में अपना नाम छोड़ा है, उन्होंने साहस और उद्योग का सहारा लिया है। अर्जुन पुरुषार्थ और अभ्यास के बल से धनुर्धारियों में श्रेष्ठ बना। हनुमान अपने साहस के कारण ही महावीर कहलाए। श्रीकृष्ण जी ने अपने साहस के आधार पर ही काली नाग को नाथा और कंस पर विजय प्राप्त की। वीर शिवाजी ने अपनी हिम्मत से ही हिन्दू धर्म की रक्षा की। महाराजा छत्रसाल ने अपनी हिम्मत के ही बल से बुन्देल-खंड में अपना राज्य स्थापित किया। गुरु गोविन्द सिंह जी ने अपने अदम्य साहस के कारण ही भारतवर्ष में अपना नाम अमर बना दिया। जहाँ पर अभिमन्यु की भाँति साहस निष्फल जाता है, वहाँ पर इस किस्मत को भले ही दोष दे लें, पर इतना निश्चय है कि बिना उद्योग किए सफलता प्राप्त नहीं होती। उद्योग ही सफलता का मार्ग है। जो उस मार्ग पर नहीं चलेंगे वे किसी प्रकार लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकते। इसलिए ठीक ही कहा है कि 'हिम्मत बिन किस्मत नहीं।'

उत्तम विद्या लीजिए यदपि नीच पै होय।
परो अपावन ठौर में कंचन तजै न कोय॥

संसार में वस्तु का मूल्य है न कि उसके उद्गम स्थान का। पंक से कमल की उत्पत्ति होती है, लवणाकर समुद्र से बहुमूल्य मुक्ता निकलते हैं, और धूल-मिट्टी में हीरे पाए जाते हैं। कमल, मुक्ता और हीरे का संसार में मान है किंतु उनके उत्पत्ति-स्थान की ओर कोई ध्यान भी नहीं देता। यही हाल विद्या का है। हमको

विद्या जहाँ मिले वहीं से ले लेनी चाहिए। कुरूप पुरुष के हाथ का बना हुआ चित्र यदि सुन्दर है तो हम उसको लेने में संकोच नहीं करते, फिर विद्या तो एक अमूल्य वस्तु है; उसका तो कहना ही क्या ? वह जहाँ रहती है वहीं पवित्रता आ जाती है। महारानी मीराबाई ने रैदास चमार को गुरु बनाया था—

"रैदास संत मिले मोंहि सतगुरु दीन्हा सुरत सहदानी।"

नीच से विद्या लेने में विद्यार्थी का कोई नैतिक पतन नहीं होता। यदि हम नीच से विद्या लेते हैं तो उस प्रकार के विद्योपार्जन द्वारा हम विद्या को ही महत्ता देते हैं। संसार में वे लोग सफल हुए हैं जो सब से शिक्षा लेने को तैयार रहे हैं। जो लोग शिष्य भाव से संसार में प्रवेश करते हैं वे ही संसार में कुछ सीख सकते हैं। जो लोग अहंमन्य हैं और जो लोग यह विचार रखते हैं कि हम अपने से ऊँचे को ही गुरु बनावेंगे वे लोग सत् शिक्षा से वंचित रहकर दंभ और पाखंड का शिकार बन जाते हैं। सच्चे जिज्ञासु के लिए ऊँच नीच का प्रश्न नहीं रहता। उसके लिए तो 'हरि को भजै सो हरि का होई' वाली कहावत ठीक है। स्मृतियों ने भी विद्या-ग्रहण के संबंध में संकुचित विचार नहीं रक्खे। मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मण शिष्य वैश्य गुरु से शिक्षा ले सकता है। जो लोग शिक्षा देने वाले के कुल और वंश का विचार करते हैं वे शिक्षा को महत्ता नहीं देते वरन् कुल और गोत्र को महत्ता देते हैं। महाकवि भवभूति ने ठीक ही कहा है कि "गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः" अर्थात् गुणियों में गुणों की ही पूजा होती है वेष या आयु की नहीं। गुण वेश और आयु आदि की सब कमी को पूरा कर देते हैं।

जब हम लोभ-वश अपावन ठौर में पड़े हुए सोने को त्याज्य

नहीं समझते तब हम परम पावनी विद्या को नीच से स्वीकार करने में क्यों आनाकानी करें। नीच स्थान से सोना लेकर विद्या न लेना अपनी नीचता का द्योतक है, इसीलिए कहा गया है—

उत्तम विद्या लीजिए यद्पि नीच पै होय।
परो अपावन ठौर में कंचन तजै न कोय॥

बिना विचारे जो करै, सो पाछे पछिताय

मनुष्य विचारशील है। विचार ही उसकी विशेषता है। काम पशु पक्षी भी करते हैं, किंतु वे स्वाभाविक प्रवृत्ति के वश हो मशीन की भाँति अपने कार्य में लगे रहते हैं। मनुष्य के लिए एक काम करने के अनेक मार्ग होते हैं। वह ऊँच-नीच और हानि-लाभ का विचार कर उनमें से एक को चुन सकता है और उस मार्ग पर चल कर सिद्धि प्राप्त कर सकता है। लेकिन जो मनुष्य विचार किए बिना एक मार्ग का जल्दी से अनुकरण करता है उसे प्राय: विफलता का सामना करना पड़ता है और तब वह पछताता है कि उसने जल्दी में यह काम क्यों किया। इस के अतिरिक्त मनुष्य का ज्ञान परिमित है और संसार बहुत बड़ा है। जिन मनुष्यों से हम को व्यवहार करना पड़ता है उनके बारे में प्राय: हम गलत निर्णय कर लेते हैं। भले को बुरा समझ लेते हैं और बुरे को भला। मनुष्य को समझने और परखने के लिए बहुत समय चाहिए। अनुभव की कसौटी पर कस कर ही मनुष्य की परीक्षा होती है। बिना पूरा अनुभव प्राप्त किये या बिना अच्छी तरह विचार किये यदि कोई कार्य किया जाय तो उससे हानि ही होती है और पछताना ही

पड़ता है। इसीलिए संस्कृत में कहा है कि 'सहसा विदधीत न क्रियाम्' अर्थात् किसी काम को एक दम नहीं कर बैठना चाहिए।

संसार के कथा साहित्य में इस सिद्धान्त को पुष्ट करने वाले अनेकों उदाहरण मिलते हैं; किन्तु यहाँ पर एक उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा। किसी शहर में देवशर्मा नाम का ब्राह्मण रहता था। ईश्वर की कृपा से उसके एक पुत्र हुआ। उस के घर में एक नकुली (नेवली) पली हुई थी। उसी दिन नकुली ने भी बचा दिया। पुत्र के साथ-साथ एक ही दिन जन्म होने के कारण उस नेवले के बच्चे का ब्राह्मण परिवार में बहुत आदर हो गया। नेवला ब्राह्मण के बालक के साथ नित्य खेला करता और वह उससे बहुत स्नेह करने लगा। एक दिन ब्राह्मण और ब्राह्मणी बालक और नेवले को अकेला घर में छोड़ बाहर चले गए। इस अवसर में एक विषैला सर्प आया और लड़के की ओर बढ़ने लगा। कुछ स्वाभाविक वैर के कारण और कुछ बालक से स्नेह होने के कारण नेवले ने सर्प को मार डाला। ब्राह्मण के लौटने पर नेवला उसका स्वागत करने को तथा उसे इस घटना का संवाद देने को बाहर आया। नेवले का मुख खून से लथपथ देखकर ब्राह्मण को यह शंका हुई कि उसने बालक को काट खाया है। ब्राह्मण ने बिना और कुछ सोचे विचारे पास से एक ईंट उठा कर नेवले पर पटक दी, जिससे वह वहीं पर मर गया। इसके बाद भीतर जाकर देखा तो बालक सोया पड़ा है और उस के पास एक काला साँप मरा पड़ा है। तब उसको सारा रहस्य मालूम हुआ और वह अपनी भूल पर पश्चात्ताप करने लगा। इतने में ब्राह्मणी भी लौट आई और नेवले को मरा हुआ देख रोने लगी। इसी से कहा है कि जल्दी का काम शैतान का होता है। बिना विचारे जल्दी में जो काम कर बैठता है उसे पीछे पछताना पड़ता है।

प्राचीन और नवीन सभ्यता

प्राचीन और नवीन सभ्यता से पूर्वी और पश्चिमी सभ्यता का अभिप्राय लिया जाता है। पूर्वी सभ्यता का प्रतिनिधि प्राचीन भारत कहा जा सकता है तथा पश्चिमी सभ्यता का प्रतिनिधि आधुनिक यूरोप। इन दोनों सभ्यताओं में से कौन सी श्रेष्ठ है, इसका विचार करने से पहले दोनों सभ्यताओं में क्या अन्तर है इस पर दृष्टिपात करना होगा।

प्राचीन सभ्यता में यदि श्रद्धा, आदर, सम्मान तथा धार्मिक भावों की अधिकता है, तो आधुनिक सभ्यता समानता, स्वतंत्रता, भ्रातृभाव तथा राष्ट्रीयता की उपासिका है। जहाँ प्राचीन सभ्यता के उपासक बच्चों को माता के दूध के साथ नम्रता का पाठ पढ़ाते हैं—"मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव" का मंत्र उनके हृदयस्थल पर अंकित करते हैं और कहते हैं—माता पिता को देवता समझो, गुरु को प्रणाम किया करो, बड़े बूढ़ों के पैर छुआ करो, ब्राह्मण तथा अन्य उच्च वर्णों की पूजा किया करो, राजा ईश्वर का अवतार है, अतः उसके सामने सिर झुकाओ, पति परमेश्वर है, अतः उसकी उपासना करो; वहाँ आधुनिक सभ्यता के उपासक कहते हैं—मनुष्य मात्र में कोई भेदभाव नहीं, सब मनुष्य समान हैं, उनमें किसी तरह की उच्चता नीचता नहीं, कोई पूज्य और कोई अछूत नहीं, राष्ट्र की उन्नति करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है।

पुरातन सभ्यता का लक्ष्य यदि सादगी और आवश्यकताओं की कमी है तो आधुनिक सभ्यता का लक्ष्य आवश्यकताओं को

बढ़ाना है। पुरातन सभ्यता के उपासक कहते हैं कि जीव जन्म से लेकर मरने तक एक वासना के बाद दूसरी वासना, एक कमी के पीछे दूसरी कमी को लादे रहता है, उसे दम लेने की भी फुरसत नहीं मिलती। अंत में उन कर्मों को दूसरे के सिर पर लाद कर एकाएक वह मृत्यु के गढ़े में गिर जाता है। वासनाओं के लोभ से जन्मभर अनन्त कर्म करते जाना एक प्रकार की गुलामी है, इसी गुलामी की जड़ उखाड़ना, इस तृष्णा रूपी राक्षसी से छुटकारा पाना इस कर्म-पाश को काटकर मुक्त होना ही मनुष्य मात्र का ध्येय है। परन्तु आधुनिक सभ्यता के उपासक कहते हैं कि जिस जाति की आवश्यकताएँ जितनी बढ़ी हुई हैं, वह जाति उतनी ही समृद्ध तथा उतनी ही सभ्य है।

पुरातन सभ्यता में यदि आध्यात्मिकवाद का आधिक्य है, सांसारिक भावनाओं का अभाव है, जीव को नश्वर समझकर आत्मा को उन्नत करना और आत्मतृप्ति पाने का विधान है, तो आधुनिक सभ्यता प्रकृति की उपासिका है, वह विज्ञान द्वारा नित्य प्रकृति को वश में करने के मार्ग ढूँढती रहती है। जल, स्थल सबको उसने वश में कर लिया है। अब वह आकाश पर भी अधिकार जमा रही है। भाप और बिजली आदि असीम शक्तियों को वश में करके उसने संसार की काया पलट दी है. पर अभी उसकी दौड़ समाप्त नहीं हुई। हो भी कैसे ? क्योंकि जीव की आवश्यकताओं की पूर्त्ति ही उसका लक्ष्य है। सांसारिक समृद्धि ही इस सभ्यता की कसौटी है।

सारांश यह कि पुरातन सभ्यता का ध्येय 'त्याग' है और आधुनिक सभ्यता का लक्ष्य 'प्राप्ति'। प्राचीन सभ्यता में त्यागी का आदर था तो आजकल उसका आदर होता है जिसके पास

सबसे अधिक ऐश्वर्य हो। प्राचीन सभ्यता में त्यागी संन्यासी के सामने राजा भी सिर झुकाता था, आज समृद्धिशाली दूसरों को तुच्छ समझता है। पुरातन सभ्यता नम्रता और सादगी का पाठ पढ़ाती थी तो आधुनिक सभ्यता आत्मसम्मान, समानता तथा आडंबर का उपदेश देती है।

दोनों सभ्यताओं में से कौनसी सभ्यता अच्छी है यह प्रश्न बड़ा जटिल है, क्योंकि सभ्यता किसी कसौटी पर परखी नहीं जा सकती। उसमें देश काल तथा जातीय विचारों के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। यदि भारत और प्राच्य देश पुरातन सभ्यता के उपासक हैं तो सब पाश्चात्य देश, आधुनिक सभ्यता के।

आज प्राच्य-देश प्रायः गुलाम हैं, गुलामों की सभ्यता ही क्या? उनकी गिनती तो असभ्यों और जंगलियों में की जाती है। अतएव आजकल पुरातन सभ्यता को अच्छा कहना, अपना अपमान करना है। परन्तु इतना कहना ही पड़ेगा कि जीव को चिरशान्ति वासनाओं की कमी से ही मिल सकती है। आज इस तृष्णा की दौड़ से ऊब कर अनेक यूरोपीय विद्वान कहने लगे हैं कि यह सभ्यता मनुष्य मात्र को महानाश की ओर ले जा रही है। वे इस सभ्यता को एक रोग कहते हैं। अतएव पुरातन सभ्यता को उच्च स्थान देना पड़ता है।

———

कुछ विवेचनात्मक निबंधों के खाके

सत्य

जो बात जैसी देखी, सुनी, अथवा समझी हो, उसको उसी प्रकार वाणी द्वारा प्रकट कर देने का नाम सत्य-भाषण है। मनुष्य मन, वचन, कर्म से सत्यवादी हो—जो मन में सोचे, वही वाणी से कहे, वही उसकी क्रिया में हो। सच्चा मनुष्य वही, जो भीतर-बाहर एक-सा हो। सत्य सबसे बड़ा गुण और सब गुणों का आधार। जिसमें सत्य हो उसमें निर्भयता आदि सब गुण आ जाते हैं। साँच को आँच नहीं। सत्य मनुष्य को सरल, न्यायी, निर्मल, दूसरों को हानि न पहुँचाने वाला तथा सदाचारी बना देने वाला।

सत्य पर डटे रहना, सचाई का व्यवहार करना, प्रत्येक दुनियादार आदमी के लिए उतना ही आवश्यक, जितना कि साधु या वैरागी के लिए। कुछ लोग छोटे स्वार्थों, थोड़े लाभों और जल्दी सफलता के लोभ में झूठ से काम ले लेते हैं। सोचते हैं फिर झूठ न बोलेंगे, पर धीरे-धीरे आदत ही पड़ जाती है। असत्य कई बार बड़ा लुभावना होता है, सफलता का प्रलोभन दिखाता है। इसके विपरीत सच्चे आदमी को नाना प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं, जैसे हरिश्चन्द्र आदि को; पर अंत में सत्य की ही विजय होती है; "सत्यमेव जयते नानृतम्"। सच्चे आदमी का सब विश्वास करते हैं पर झूठे का अविश्वास। निकटतम संबंधी भी झूठे व्यक्ति पर संदेह करने लगते हैं। किसी बात को बढ़ाकर कहना, अथवा

अपने लाभ के लिए छिपाना या गोलमोल कहना भी झूठ है। दुकान पर बैठकर झूठ बोलकर दुगुनी तिगुनी कीमत वसूल करना या झूठी गवाही देना पाप नहीं समझा जाता। 'या बेईमानी तेरा ही आसरा' का सिद्धांत जब तक समाज में प्रचलित है, तब तक सब कुरीतियाँ हैं। एक झूठ को छिपाने के लिए अनेक कुकृत्य करने पड़ते हैं।

, प्राचीनकाल में सत्यवादी हरिश्चंद्र, युधिष्ठिर सत्य के अवतार, इस समय महात्मा गांधी।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य का अर्थ—विषय-वासना से परे रहकर वीर्य-रक्षा करना; परन्तु विस्तृत अर्थ में इंद्रियों को कुमार्ग में जाने से रोकना। रूप, रस, गंध, स्पर्श, श्रवण इन सब विषयों का निरोध ही ब्रह्मचर्य है। प्राचीन काल में चार आश्रमों में पहला आश्रम ब्रह्मचर्य, जिसमें विषय-वासना से परे रहकर केवल अध्ययन में लगे रहना होता था। गुरुकुल में २५ वर्ष ब्रह्मचारी रहकर विद्यार्थी घर लौटता था। २५, ३६ और ४८ वर्ष के ब्रह्मचारी।

वीर्य शरीर में सबसे अधिक मूल्यवान वस्तु। ब्रह्मचर्य ही जीवन और वीर्यनाश ही मृत्यु। निर्वीर्य पुरुष का शरीर रोगों का घर, उत्साह-हीन। वीर्य रक्षा करने वाले ब्रह्मचारी के शरीर में तेज, बल। अतएव "ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत"—ब्रह्मचर्य के बल से देवताओं ने मृत्यु तक को जीता। जो ब्रह्मचारी न रहकर छोटी अवस्था में ही पुत्रोत्पत्ति करने में लग जाते हैं, वे अपना ही नहीं अपनी संतति का भी नाश करते हैं।

ब्रह्मचर्य का पालन मन, वचन और कर्म से होना चाहिये। ब्रह्मचारी के लिए स्त्री-दर्शन आदि आठों प्रकार के मैथुन तथा हस्तमैथुन से वचना आवश्यक। तेल खटाई आदि ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध पदार्थ। आजकल स्कूलों में बढ़ते हुए अवगुण। इसी कारण क्रमशः स्वास्थ्य-नाश। ब्रह्मचर्य के लिए पवित्र संकल्प, सादा रहन-सहन, प्राणायाम, नित्य स्नान, लंगोट बंद रहना, नियमित व्यायाम, उपवास, स्त्रियों में मातृभाव दृष्टि, दृढ़ प्रतिज्ञा आदि आवश्यक।

आदर्श ब्रह्मचारी भीष्म, दयानंद आदि।

आत्मगौरव

मनुष्य में आत्मगौरव या आत्मसम्मान का भाव सबसे अधिक आवश्यक। जो अपना सम्मान स्वयं करता है दूसरे आदमी भी उसका आदर अवश्य करेंगे।

जिसको न निज गौरव तथा, निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं नरपशु निरा है, और मृतक समान है॥

आत्मगौरव या आत्म-प्रतिष्ठा का अर्थ अभिमान नहीं। अभिमान सबसे बड़ा शत्रु है, पर आत्मसम्मान का अर्थ है, विनयी और नम्र होते हुए भी अपनी इज्ज़त का ध्यान रखना। जिसको आत्मप्रतिष्टा का ध्यान है वह कभी नीच कर्म न कर सकेगा। आत्मप्रतिष्ठा के महत्त्व को समझने वाला ही जीवन में सफल हो सकता है। व्यापारी राजनीतिज्ञ आदि सभी के लिए आत्मसम्मान आवश्यक। इसी से देश तथा जाति का गौरव बढ़ता है।

चंद टरै, सूरज टरै, टरै जगत व्योहार।
पै दृढ़ श्री हरिचंद को टरै न सत्य-विचार॥

वेचि देह दारा सुअन होइ दासहू मंद।
रखिहैं निज वच सत्य करि अभिमानी हरिचंद॥

जैसी हरिश्चन्द्र की गर्वोक्तियों में आदर्श आत्मप्रतिष्ठा का भाव। जिनमें आत्मसम्मान नहीं है, वे थोड़े से लाभ के लिए दूसरों के तलुए चाटते फिरते हैं; गाली तक सहते हैं।

कविवर रहीम के आदर्श वाक्य—

रहिमन पानी राखिए, विनु पानी सब सून।
पानी गए न ऊवरे, मोती मानुष, चून॥
रहिमन मोहि न सुहाय, अमी पिआवे मान विनु।
मानसहित मरिवो भलो, जो विष देइ वुलाय॥

शिष्टाचार

शिष्टाचार का अर्थ है सद्व्यवहार, भले आदमियों का सा वरताव। शिष्टाचार वहुत वड़ा गुण। शिष्टाचार आदमी के कुल, चरित्र तथा शिक्षा-दीक्षा की कसौटी। शिष्ट, विनयशील व्यक्ति को सव प्रेम करते हैं। शिष्टाचार वड़े वड़े कामों में ही नहीं छोटे कामों में भी।

घर शिष्टाचार सीखने का विद्यालय। वड़ों का आदर। घर में गंदगी न फैलाना। घर में आये अतिथि का सम्मान। वीमार की सेवा-शुश्रूषा।

विद्यालय में जव मुख्याध्यापक या कोई दूसरा अध्यापक आवे तो उसका उठकर स्वागत। विद्यालय की वस्तुओं को गंदा न करना। आँगन या कमरे में इधर उधर कागज़ न फेंकना। वाचनालय या पुस्तकालय में चुपचाप पढ़ना। खेल के मैदान में भी शिष्टाचार आवश्यक।

सड़क पर फलों के छिलके न डालना। अपने घर बैठे बैठे ऊपर से बाहर बाज़ार में कूड़ा न फेंकना। सड़क पर पेशाब या पाखाना न करना और न हर स्थान पर थूकना। राह चलती स्त्रियों की ओर न ताकना, अपितु उनका आदर करना। यात्रा में टिकट लेते समय धक्का-मुकी न करना। रेल के डिब्बे में बैठे आदमियों की सुविधा का ख़याल रखना।

खाते समय मुँह में इतना बड़ा ग्रास न भरना कि मुँह चलाना कठिन हो जाय। भोजन केवल एक—दाहिने—हाथ से खाना। और भोजन से मुँह हाथ कपड़े न लपेट लेना। पहले भोजन पाने के लिए न चिल्लाना। व्यर्थ जूठा न छोड़ना। खाते समय पंक्ति से न उठना। और जब दूसरे खा चुके हों तो स्वयं भी खाना बंद कर देना।

सभा में या दूसरे के घर बिना बुलाये न जाना। ऐसी जगह न बैठना जहाँ से उठना पड़े। किसी के मकान में प्रविष्ट होने से पहले आवाज देना या दरवाज़ा खटखटाना। किसी की गुप्त बात सुनने का प्रयत्न न करना। किसी के पत्र आदि को चोरी से न पढ़ना। पुस्तक के पन्ने उलटते समय थूक न लगाना। नाक मुँह को साफ़ रखना तथा बाहर जाते समय कपड़ों का ध्यान रखना।

नागरिकता

नागरिक शब्द का अर्थ है नगर का रहने वाला। परन्तु आज कल एक राष्ट्र के प्रत्येक निवासी को चाहे वह नगर में रहता हो अथवा ग्राम में, उस राष्ट्र का नागरिक कहा जाता है। और नागरिक कर्त्तव्यों के ज्ञान तथा नागरिक अधिकारों से संपन्न अवस्था को नागरिकता कहा जाता है।

नागरिक के अधिकार—राष्ट्र उसके जीवन और संपत्ति की रक्षा करे; उसे अपनी राय, अपने विश्वासों, अपने मज़हब की स्वतन्त्रता हो; राष्ट्र में जहाँ चाहे जावे या बसे; उद्योग और व्यापार की स्वतन्त्रता हो, उसके वैयक्तिक-जीवन तथा पत्र-व्यवहार में किसी का दखल न हो; उसे मत देने का तथा शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार हो और कानून की दृष्टि से उसे वे सब अधिकार 'समान रूप से मिले हों जो किसी अन्य नागरिक को प्राप्त हों; जात-पात या अन्य किसी कारण वह किसी अधिकार से वंचित न हो। इसके विपरीत प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्र के कार्यों में सहयोग दे और नियमों का पालन करे; राष्ट्र के आर्थिक बोझ को उठावे; यदि उस पर अन्य नागरिक किसी पद का भार डालें तो उसे उठाये; अपने मत देने के अधिकार का भली भाँति प्रयोग करे; शिक्षा प्राप्त करे तथा कार्य-कुशल और उद्यमी बने। पारस्परिक सहयोग, नियंत्रण, निर्वाचित व्यक्तियों का आज्ञापालन, तथा अपने से बड़े और सहयोगियों पर विश्वास के आधार पर ही नागरिकता का महल बनता है। नागरिकों से परिवार, परिवार से ग्राम या शहर और ग्राम या शहर से देश बनता है। अतएव देश का अभ्युदय, देश की स्वतन्त्रता इस बात पर निर्भर है कि साधारण से साधारण व्यक्ति भी अपने नागरिक अधिकारों और कर्त्तव्यों को समझे और तदनुसार जीवन-निर्वाह कर अच्छा नागरिक बनने का प्रयत्न करे। हमारी शिक्षा का यही उद्देश्य होना चाहिए कि हम अच्छे नागरिक बनें। सच्चा नागरिक ही वास्तविक शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति है।

———

धन का सदुपयोग

धन संसार की एक बड़ी शक्ति है, संसार के जितने भले कर्म हैं, वे धन की अपेक्षा रखते हैं। इसलिए धन त्याज्य नहीं; उसका सदुपयोग होना चाहिए।

दानं भोगो नाशस्तिस्त्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते, तस्य तृतीया गतिर्भवति॥

दान, उपभोग और नाश धन की तीन गतियाँ हैं, जो न देता है और न खाता है, उसका धन स्वयं ही नष्ट हो जाता है। अतः धन का सदुपयोग दान देने में है। दान देते समय दान-पात्र का ध्यान रखना चाहिये। शिक्षा आदि के कार्यों पर खर्च करना या अनाथों, विधवाओं और असहायों की सहायता के लिए देना धन का सदुपयोग कहा जा सकता है।

"दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्" गीता के इस वाक्य का तात्पर्य यही है कि गरीबों को दान देना चाहिए, ऐश्वर्य वालों को नहीं। कुपात्र को दिया दान धन का दुरुपयोग है। देश के उन व्यवसायों में धन लगाना जिनमें लाभ की आशा कम हो, पर जिन से देश की कला, कौशल और व्यवसाय की उन्नति हो, अनेक बेरोज़गारों को रोज़गार मिलता हो, धन का सब से अच्छा उपयोग है।

उचित रीति से जो धन अपने ऊपर खर्च किया जाता है, उसका फल दान से कम नहीं, वह भी सदुपयोग है। स्वच्छ कपड़े, हवादार मकान, स्वास्थ्य और मन बहलाव के लिए खेल कूद, अनु-

भव प्राप्ति के लिए भ्रमण और यात्रा, बालकों की शिक्षा ये सब मानव जीवन के लिए आवश्यक हैं, इन पर खर्च किया गया धन सदुपयोग ही है। व्यसन आदि पर खर्च करना दुरुपयोग है।

स्त्रियों के अधिकार

प्राचीन भारत में स्त्रियों का पर्याप्त आदर था, स्त्री को पुरुष की अर्द्धांगिनी माना जाता था। स्त्री के विना यज्ञ आदि न हो सकते थे। मनु का कहना—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥

जिस कुल में स्त्रियाँ पूजित होती हैं, उस पर देवता प्रसन्न होते हैं। जहाँ स्त्रियों का अपमान होता है वहाँ सभी यज्ञादिक कर्म निष्फल हो जाते हैं। परन्तु समय के साथ साथ स्त्रियों का स्वातन्त्र्य कुचला गया। उनको शिक्षा देना बंद किया गया। उन्हें परदे में बंद कर दिया गया। वे पैर की जूती समझी जाने लगीं। तुलसीदास जैसे कवि का कथन—

'शूद्र गँवार ढोल पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी'

यह हाल भारत में ही नहीं, अपितु प्रायः सारे संसार में था। १८ वीं सदी से स्त्रियों ने फिर होश सँभाली। वे अपने मत आदि के अधिकारों के लिए लड़ने लगीं। यह आन्दोलन पहले पहल यूरोप में हुआ। उनके आन्दोलन को कुचलने के पर्याप्त प्रयत्न किये गये, परन्तु अन्त में स्त्रियाँ सफल हुईं। उन्होंने पुरुषों के समान ही स्वतंत्रता प्रप्त कर ली, वैसा ही मत देने का अधिकार। यूरोप

की देखा-देखी भारत और अन्य पूर्वी देशों, विशेषतः मुसलमानी देशों में भी आन्दोलन का प्रारंभ। टर्की में कमालपाशा ने नकशा ही बदल दिया। भारत में भी अब जाग्रति हो चली है। मनुष्य जितने चाहे विवाह कर ले, पर स्त्रियों को विधवा होने पर विवाह का अधिकार नहीं था। लाखों बाल-विधवाएँ थीं। पर आज स्त्रियाँ जाग चुकी हैं, वे इन अत्याचारों को नहीं सह सकतीं। वे नागरिकता के वे सब अधिकार—मत देना, सरकारी नौकरी आदि—पाना चाहती हैं, जो पुरुषों को प्राप्त हैं। भारत में भी श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित मंत्री-पद पर आसीन हो चुकी हैं।

स्त्रियों को यद्यपि वे सब अधिकार मिलने चाहिएँ जो पुरुषों को प्राप्त हैं, पर उनका कार्यक्षेत्र घर है। जब वे इस कार्यक्षेत्र को छोड़ देंगी तो समाज में उथल-पुथल हो जायगी। प्रारंभ में और भी बहुत सी खराबियाँ होने की संभावना है। पर समय स्वयं उनको ठीक करेगा।

होनहार बिरवान के होत चीकने पात

जिस व्यक्ति को भविष्य में महत्त्वशाली बनना होता है, उसके वैसा होने के कारण बचपन में ही दिखाई देने लगते हैं। इसी अर्थ में दूसरी उक्ति है 'पूत के पाँव पालने में पहचाने जाते हैं।' इतिहास के पन्ने इन उक्तियों का पग पग पर समर्थन करते हैं। हरएक महापुरुष का जीवन इस बात का पोषक है। कहते हैं बचपन से ही भगवान बुद्ध की सांसारिक विषयों से उदासीनता प्रकट होने लगी थी। नवयुवक चंद्रगुप्त को देखकर सिकंदर महान ने भविष्यवाणी की थी कि वह एक दिन भारत का सम्राट होगा। तक्षशिला और

उज्जैन का विद्रोह दमन कर युवावस्था में ही सम्राट् अशोक ने अपनी भावी शासन-शक्ति का परिचय दे दिया था। मुगल साम्राज्य की नींव डालने वाले बाबर का शौर्य बचपन से ही दिखाई देने लगा था। चिरविरहिणी मीरा बचपन से ही कृष्ण की मूर्त्ति पर जान देती थी। १६ वर्ष की अवस्था में ही होनहार रणजीतसिंह ने अब्दाली के पुत्र की आँख को अपनी ओर खींच लिया था। पाँच वर्ष की अवस्था में ही दोहा बनाकर भारतेन्दु ने अपनी भावी कवित्व-शक्ति का प्रदर्शन किया था।

काल करै सो आज कर, आज करै सो अब

समय सबसे बड़ा धन है। गुम हुआ धन मिल जाता है, पर गुज़रा समय नहीं मिलता, अतः एक क्षण भी व्यर्थ न गँवाना चाहिए। जो काम करना हो उसी समय पर लेना चाहिए, फिर पर नहीं टालना चाहिए।

मानव-जीवन क्षणभंगुर है। दमभर का भी विश्वास नहीं। पता नहीं किस क्षण जीवन-लीला समाप्त हो जाय। अतः किसी काम को कल पर टालना उचित नहीं। जो आदमी टालता रहता है उसका काम कभी पूरा नहीं होता। अतएव कहावत है, कल कभी नहीं आता। इसी को महाकवि कबीर ने इस प्रकार कहा है—

"काल करै सो आज कर, आज करै सो अब।
पल में परलै होयगी, बहुरि करैगा कब॥"

---

*जहाँ सुमति तहँ संपति नाना
जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना

लंकाधिपति रावण जब अपनी पत्नी और अपने भाई के सदु-पदेश को ठुकरा रहा था, और देवी सीता को रामचन्द्र जी के पास वापिस भेजने को तैयार न था, तब महाकवि तुलसीदास ने विभीषण द्वारा रावण को उपदेश दिलाते हुए ये वचन कहलाए हैं—सु... (अच्छी बुद्धि, अच्छे विचार) और कुमति (बुरी बुद्धि, बुरे विचार) प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में हैं। जहाँ सुमति का ज़ोर होता है वहाँ संपत्ति है, जहाँ कुमति प्रबल होती है, वहाँ अंत में विपत्ति निश्चित है।

स उक्ति में अनूठा सार है। जब मनुष्य में कुमति होती है, तब ... उस ... श कड़वे लगते हैं, वह किसी की नहीं सुनता, अंत में उसका पतन होता है। पर जहाँ सुमति होती है, भाई-भाई में कलह नहीं होता, मन में सद्विचार होते हैं, वहाँ संपत्ति है। इतिहास इसका प्रबल प्रमाण है। रावण का पतन कुमति से हुआ। कौरवों का नाश और पांडवों का अभ्युदय इस कुमति और सुमति से हुआ। अन्य अनेक साम्राज्यों की समृद्धि और पतन के ये ही कारण थे। साधारण गृहस्थों में भी हम यही देखते हैं। मनुष्य में जब तक सुमति होती है, तब तक उसकी उन्नति होती है, वह संपत्ति पाता है, पर संपत्ति पाने पर मद के मारे जब उसकी अंदर की आँखें बंद हो जाती हैं तब उसका पतन होने लगता है। जिसे हम भाग्य-चक्र कहते हैं, वह सुमति और कुमति के कारण ही चलता है।